तुलसी प्रज्ञा

TULASĪ-PRAJÑĀ

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL
OF ANEKĀNTA ŚODHA-PĪṬHA, JAIN VISHVA BHĀRATĪ

खण्ड १६ जून, १९९० अङ्क १

अनेकांत शोध-पीठ

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद या अनेकान्त दृष्टि*

☐ आचार्य श्री तुलसी

समन्वय या सामंजस्य भारतीय विचारधारा का प्रमुख तत्त्व रहा है। यहां के तत्त्व-द्रष्टाओं ने किसी भी समस्या को सुलझाने में एकांतिक आग्रह को स्थान नहीं दिया। यहां अपेक्षा भेद से हर पहलू पर हर दृष्टि से विचार-विमर्श, गवेषणा और अन्वेषण की परम्परा चली। जिसका एक महत्त्व है, विशेषता है। संघर्ष, विध्वंस या विप्लव के द्वारा समस्याओं को सुलझाने का जो उपक्रम है वह वास्तविक सुलझाव नहीं, वह तो उलझाव है, क्योंकि उससे क्षणवर्ती सुलझन दीखती है, पर यह आंखों से ओझल करने जैसा नहीं है कि उलझनों की कितनी गहरी और मोटी परत उसके नीचे छिपी है। अतः यहां समन्वय, सामंजस्य व एक दूसरे को विभिन्न अपेक्षाओं से समझकर पारस्परिक समझौता—ये ही समस्याएं सुलझाने के प्रमुख आधार माने जाते रहे हैं जिसे हम जैन दार्शनिकों की भाषा में स्याद्वाद या अनेकांत दृष्टि कह सकने हैं। इसी समन्वय की नीति के आधार पर पंडित नेहरू ने जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की, वह सही माने में भारतीय संस्कृति और चिन्तन का गौरव है। धार्मिक क्षेत्र के लोग विशेष रूप से संकीर्णता, निंदा एवं कटुतापूर्ण व्यवहार से सदा परे रहें।

ऊंचे विचारों तथा आदर्शों के लम्बे-लम्बे गीत व मधुर गाथाएं गाने से क्या बनेगा, यदि व्यक्ति के जीवन में उन आदर्शों की छाया तक नहीं ? "सत्यं जयति नानृतम्" का घोष सचमुच बहुत मीठा है, पर वह क्या कर पायेगा यदि व्यक्ति का अन्तस्तल सत्य के प्रति आकृष्ट नहीं है ? इसलिए इन उच्च आदर्शों की व्याप्ति अपने जीवन में देखनी चाहिये। ऐसा न कर केवल लम्बी-लम्बी बातें बनाने और दूसरों को उपदेश देने में लगे रहना जो अपना कर्तव्य मानता है, वह क्यों भूल जाता है कि दुनिया इतनी बेवकूफ नहीं है, वह उसे ऐसे करते देख उसके मुंह पर थूकेगी। राष्ट्र के नेताओं, विद्वानों, कवियों, लेखकों, पत्रकारों, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं तथा शासनाधिकारियों को चाहिए कि वे सब अपने जीवन को सत्य और अहिंसा के आदर्शों में ढाल कर संसार के समक्ष केवल कहने के रूप में नहीं बल्कि करने के रूप में एक जीवित मिसाल पेश करें।

अणुव्रत-आन्दोलन सर्व-धर्म-समन्वय का प्रतीत है। वह उन सर्व-सम्मत आदर्शों को प्रस्तुत करता है, जो मानव-मात्र के कल्याण के आदर्श हैं, लोक-जीवन को जगाने के आदर्श हैं।

*प्रवचन डायरी, १५ जनवरी, ५६ के प्रवचन से साभार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा

सम्पादक

डॉ. नथमल टाटिया

सहायक सम्पादक

रामस्वरूप सोनी डॉ. मंगल प्रकाश मेहता

अनेकांत शोध-पीठ

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड १६ जून, १९९० अंक १

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

१. मुनि किशनलाल : आगमों की प्रामाणिक संख्या : जयाचार्यकृत विवेचन १

२. साध्वी योगक्षेम प्रभा : प्रामाण्यवाद १२

३. समणी मल्लिप्रज्ञा : अपरिग्रह-दर्शन २०

४. डॉ० मंगल प्रकाश मेहता : हिन्दी जैन काव्य का साधनात्मक स्वरूप ३२

५. डॉ० परमेश्वर सोलंकी : सुमतितंत्र का शकराजा और उसका कालमान ३५

६. समणी कुसुमप्रज्ञा : काल : एक अनुचिन्तन ३८

७. गोपाल शर्मा : कालिदास के नाटकों में लोक-विश्वास ४१

८. समणी मंगलप्रज्ञा : मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान की भेदरेखा ४६

९. डॉ० अनिल कुमार जैन : परमाणु के मूलभूत गुण ४९

10. *Muni Mahendra Kumar* : Scientific Concept of Space and Time 52

11. *Jagat Ram Bhattacharyya* : Some Problems of Māgadhī Dialect 60

वार्षिक मूल्य : रु० ३५.०० इस अङ्क का मूल्य : रु० २०.००

नोट—यह आवश्यक नहीं है कि इस अंक में प्रकाशित लेखों में उल्लिखित विचार सम्पादक अथवा संस्था को मान्य हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों की प्रामाणिक संख्या : जयाचार्यकृत विवेचन

☐ मुनि किशनलाल

आगम पुरुष जयाचार्य

जयाचार्य आगम पुरुष हैं। यह उनके ज्ञान की गहनता और दृष्टि की निर्मलता से स्पष्ट उद्‌घोषित होता है। उनकी रचनाओं में आगम के उद्धरण और उनके पूर्वापर सम्बन्ध की समीक्षात्मक टिप्पणियों ने उन्हें अपने युग का एक विलक्षण, निष्पक्ष, आगम की परम्परा को पुष्ट करने वाला बना दिया। उनकी दृष्टि और दर्शन का आधार आचार्य भिक्षु की रचनाएं और परम्परा है। उसके आधार पर ही उन्होंने अपनी रचनाओं को आगम की कसौटी पर कसा। आचार्य भिक्षु की वाणी और मर्यादाओं की आगम व्याख्याएँ प्रस्तुत कर दर्शन और आचार की परम्परा को संपुष्ट और अक्षुण्ण बनाया।

आगम कैसे बनते हैं ?

आचार्य भिक्षु एवं जयाचार्य का स्पष्ट अभिमत है कि जिन की साक्षी से ही जो दश, चवदह पूर्वधारी आगम की रचना करते हैं, वे ही आगम हैं। जो जिन (तीर्थंकर) की साक्षी के बिना आगम, सूत्रों की रचना करते हैं, वे छद्मस्थ द्वारा रचे हुए कैसे मान्य किए जाएं ? न्याय से तौलने से यह स्पष्ट हो जाएगा। नंदी थिरावली अधिकार में लिखते हैं—

> **'दश चौदश पूर्व धरा, आगम रचै उदार।**
> **ते पिण जिन नी साख थी, विमल न्याय सुविचार।।**
> **पिण जिन नी जे साख विन, आगम सूत्र अमोल।**
> **छद्मस्थ कृत किण विध हुवै, न्याय तराजू तोल।।'[1]**

छद्मस्थ कितना ही बड़ा ज्ञानी क्यों न हो, स्खलन की संभावना बनी रहती है क्योंकि अभी तक उसके सम्पूर्ण राग-द्वेष का विलय नहीं हुआ है। अनुपयोगी अवस्था में भी हठात् अन्यथा निर्णय भी कर सकते हैं। इसलिए जिन का साक्ष्य आवश्यक माना है। चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक प्रधान गणधर गौतम गणी भी छद्मस्थता के कारण स्खलित हो गए, ऐसा सातवें अंग में है—

> **'चौ नाणी गोयम गणी, चौदश पूर्व धार।**
> **ते पिण वचन खलाविया, सप्तम अङ्ग मझार।।'[2]**

इससे यह स्पष्ट है—वीतराग पुरुष का वचन एवं उनका उपदेश ही हमारी आगम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता का आधार है। उनके उपदेशों से कोई आप्त पुरुष सूत्रों को गुम्फित कर आगम की रचना कर सकते हैं[3]।

तीर्थंकर का उपदेश वीतरागता के अर्थ से युक्त होता है, उससे ही गणधर सूत्रों की रचना करते हैं। गणधरों की अनुपस्थिति अथवा अन्य स्थविरों की रचना को भी आगम में उसी कसौटी पर मान्य किया गया है, यदि वे जिन के साक्ष्य एवं उनके अविरुद्ध रचे गए हों।

आगम के अनुरूप ग्रन्थ भी मान्य

आप्त पुरुषों के अभाव में आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ मान्य किए जा सकते हैं यदि वे ग्यारह अंग से अविरुद्ध हों। अजीमगंज के श्रावक बाबू कालूरामजी ने विक्रम संवत् १९३३ में ५२ दोहों की प्रश्नावली लाडनूं के श्रावकों के साथ जयाचार्य के पास भेजी। उसमें आगम के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न थे। उसके पुत्युत्तर में जयाचार्य ने लिखा है—

'एकादश जे अङ्ग थी, मिलता वचन सुजाण।
सर्व मानवा योग मुझ, पइन्ना प्रमुख पिछाण ॥'[4]

पइन्ना आदि सभी ग्रन्थ एकादश अङ्ग से मिलते हुए मुझे मान्य हैं।
आगम की स्वीकृति का मूल आधार वीतराग सम्पन्न दृष्टि है।

शुद्धाचार की कसौटी: पांच व्यवहार

जैन परम्परा में शुद्ध आचरण की कसौटी पांच[5] प्रकार से की जा सकती है, जिन्हें पांच व्यवहार कहा जाता है—१. आगम में उपदिष्ट, २. आगम में स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है फिर भी किसी स्थविर ने आप्त पुरुषों से सुना हो, उस श्रुत के आधार से आचारण किया जा सकता है, ३. ये दोनों न हो तो आचार्य की आज्ञा के अनुसार किया जा सकता है, ४. आज्ञा देने वाले आचार्य भी उपलब्ध न हो तब उपस्थित संघ की जो धारणा है उसके अनुसार किया जा सकता है, ५. यह भी प्राप्त न हो तब शुद्ध नीतिवान् व्यक्तियों द्वारा निश्चित किया गया पथ जीत–व्यवहार है। "सूत्तर में तो कठै न वरज्यो, परम्परा में वरज्या नाय, तिणस्यू निर्दोष जीत व्यवहार थायण में शंक मे राखो काय" (परम्परा की जोड़ किवाडिय की ढाल) के अनुसार आचरण किया जा सकताहै। यहां प्रश्न उपस्थित हो सकता है, इन सबको किस कसौटी से कस कर यथार्थ निर्णय करें। उसके लिए आठारह स्थानों का उल्लेख किया है। अठारह स्थानों[6] की विराधना एवं उसके विरुद्ध कर्म न हो। छट्ट व्रत, छट्ट-काय, अहिंसा, रात्रि भोजन आदि छट्ट व्रत, पृथ्वीकाय आदि छह-काय, स्नान, शोभा विभूषादि, छट्ट नियमों की विराधना करने वाला निग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है।

इसकी कसौटी का दूसरा आधार है—पांच महाव्रत, आठ प्रवचन। इन १३ नियमों के विपरीत आचरण नहीं होना चाहिए। दिगम्बर परम्परा ने मूल में गुणों से विपरीत आचरण को आगम विरुद्ध माना है।

भगवान् महावीर ने वस्तु, विचार और व्यक्ति को महत्त्व नहीं दिया है, वीतरा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गता को महत्त्व दिया है। आगम एव शुद्ध आचरण का निर्णय वीतरागता है। ऐसा ही उल्लेख बौद्ध परम्परा के 'दीर्घनिकाय महापरिनिर्वाण' सुत्त में मिलता है। वहां कहा गया है कि—

१. भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अथवा आचरित विचार ही आगम हो सकता है। उसके अनुसार आचरण किया जा सकता है।

२. यदि यह उपलब्ध न हो तब किसी समग्र संघ विशेष से सुने हुए आचरण के अनुसार आचरण किया जा सकता है।

३. ऐसा न मिलने पर बहुश्रुतधर, आगमधर, भिक्षुओं से सुने आचरण के निर्देश के अनुसार प्रवृत्ति की जा सकती है।

४. ऐसा भी संयोग न हो तब किसी आचार्य विशेष से सुना हुआ आचरण कार्य के लिए स्वीकृत किया जा सकता है। इन चारों की कसौटी का आधार है—विनय और सुत्त की मौलिक वाणी के विरुद्ध न हो, साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद (अनित्यता) धर्म का अनुशीलन करने वाला हो।

वैदिक परम्परा में भी वेद,[७] श्रुति, स्मृति, सदाचार और विवेक की कसौटी से गुजरकर ही श्रेष्ठ आचरण की स्थापना हो सकती है।

आगम कितने और क्यों मान्य हैं ?

जयाचार्य की निर्मलप्रज्ञा भी इसी यथार्थ की उद्घोषणा करती है। आगम अधिकार एवं अन्य स्थलों में आगम मान्यता की चर्चा में उनके द्वारा यही विश्लेषित हुआ है ? "आगम कितने और क्यों मुझे मान्य हैं ?"—इस पर चर्चा करते हुए वे अपने लघु ग्रन्थ '८४ आगम अधिकार'[८] में लिखते हैं—

"कोई कहे नंदी सूत्रे केई पडतां में २९ उत्कालिक कह्या अनै ३१ कालिक कह्या एवं ६० अने १२ अंग एवं ७२ आवसग एवं ७३ नाम कह्या। अने केई पडतां में उत्कालिक नां ३४ आंक अने कालिक रा ३९ अंग लिख्या। ७३ एवं १२ अंग एवं ८५ आवसग ८६। अंग एवं आवसग सर्व पडतां में कह्या। केइ पडतां में ६० आंक लिख्या। अने केई पडतां में उत्कालिक, कालिक रा ७३ नाम लिख्या। इतो फेर ते किम ? तेहनो न्याय कहे छे। प्रथम तो उत्कालिक सूत्र नंदी री पडतां में २९ आंक लिख्या—

१. दसवेयालिअं
२. कप्पिया कप्पियं
३. चुल्लकप्पसुयं
४. महाकप्पसुयं
५. ओवाइयं
६. रायपसेणि (णइ)यं
७. जीवाभिगमो (जीवाजीवाभिगमे)
८. पण्णवणा
९. महापण्णवणा
१०. पमायप्पमायं
११. नंदी
१२. अणुओगद्दाराइं
१३. देविंदत्थओ
१४. तंदुलवेयालियं
१५. चंदगविज्झय
१६. सूरपण्णत्ती
१७. पोरिसिमंडलं
१८. मंडलपवेसो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९. विज्जाचरणविणिच्छओ
२०. गणिविज्जा
२१. झाणविभत्ती
२२. मरणविभत्ती
२३. आयविसोही
२४. वीयरागसुयं
२५. संलेहणासुयं
२६. विहारकप्पो
२७. चरणविही
२८. आउरपच्चक्खाणं
२९. महा पच्चक्खाणं सेत्तं उक्कालियं"

कुछ लोग ऐसा कहते हैं और कुछ प्रतियों में २९ उत्कालिक, ३१ कालिक, १२ अंग, १ आवश्यक—इस प्रकार ७३ की संख्या निष्पन्न होती है। कुछ प्रतियों में कालिक की संख्या ३४ है और उत्कालिक की संख्या ३९ है। इस प्रकार ७३ की संख्या होती है। इनमें बारह अंग एवं एक आवस्सग के योग से ८६ संख्या हो जाती है। १२ अंग और आवश्यक सभी प्रतियों में है। अंग और आवश्यक की संख्या सभी को मान्य है। कुछ प्रतियों का उल्लेख कर जयाचार्य ने संकेत दिया है कि उत्कालिक और कालिक की संख्या ६० है तो कहीं यही संख्या ७३ है।

कालिक-उत्कालिक संख्या निर्णय

संख्या की दृष्टि से उत्कालिक और कालिक में इतना अंतर क्यों है? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए जयाचार्य ने अपने अधिकृत ग्रन्थ में सूची प्रस्तुत की है। २९ नाम स्पष्ट हैं तथा आज भी नंदी के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।[९] जिन प्रतियों में २९ के स्थान पर ३४ अंक हैं, सम्भवतः जयाचार्य को उपलब्ध प्रतियों में लिखने वाले लेखक ने अपनी मति से अंकों का निर्धारण कर दिया हो। उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए जयाचार्य वहीं लिख रहें हैं—'कप्पियाकप्पियं इहां बे आंक लिख्या पिण सूत्र एक संभवै।'[१०]

नामों की संख्या में दूसरे नम्बर का शास्त्र है—'कप्पिया कप्पियं'। किन्तु उस प्रति में यह नम्बर संख्या '२ कप्पिय ३ कप्पियं' ऐसा उन्हें उपलब्ध हुआ था, किन्तु यह नम्बर की संख्या ठीक नहीं है क्योंकि 'कप्पा कप्पियं' एक ही सूत्र का नाम है।

संख्या नम्बर १९ में 'विज्जाचरण विणिच्छओ' पर भी दो अंक लिख दिए हैं किन्तु यह भी एक ही सूत्र का नाम है। 'विज्जाचरण विणिच्छओ इहां बे आंक लिख्या पिण सूत्र एक संभवै।'[११]

'झाण विभत्ती और झाण विसोही' दो ग्रन्थों के नाम से भासित होते हैं किन्तु एक ही ग्रन्थ को दो तरह से पुकारा गया है। झाण विभत्ती और झाण विसोही दो पाठ हैं किन्तु वृत्तिकार झाण विसोही का ही अर्थ करते हैं। अतः 'झाण विभत्ती और झाण विसोही' एक ही ग्रन्थ के दो नामों का कथन है। यदि दो ग्रन्थ होते तो वृत्तिकार दूसरे पाठ की भी व्याख्या करते।

'झाणविभत्ती झाणविसोही इहां पिण बे आंक लिख्या पिण सूत्र एक संभवे।'[१२]

'मरणविभत्ती मरणविसोही' में दो अंक दिए गए हैं, परन्तु सूत्र एक ही है, ऐसी संभावना है। वृत्तिकार ने भी मरणविसोही की व्याख्या की है, मरणविभत्ती की नहीं।

'मरणविभत्ती मरणविसोही इहां पिण बे आंक लिख्या पिण सूत्र एक संभवे।'[१३]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह 'आय विभत्ती आय विसोही' में भी वही क्रम चलता है। अपनी बात की पुष्टि के लिए नंदी[1] टीका के अर्थ का उल्लेख करते हैं—

'कल्पाकल्प प्रतिपादक अध्ययने ते कल्पाकल्पइं' इण लेखे एक सूत्र की ही संभावना है। इसी तरह 'विज्जाचरण विणिच्छओ' विद्या और चारित्र का विनिश्चय कराने वाला एक ही शास्त्र है।

३४ अंक की गणना में पांच अंक के शास्त्रों का दो-दो बनाने से संख्या ३४ हुई। पांच ही गिनने से वे २९ ही रह गए। उत्कालिक की संख्या २९ ही है।

कालिक सूत्रों की संख्या की मीमांसा करते हुए जयाचार्य ने आगम अधिकार में लिखा है—'किण ही पड़त में इकतीस नाम लिख्या तेहना नाम कहै छै। अनै किणहीक पड़ता में ३९ आंक लिख्या तेहनो विवरो कहै छै। दीव पन्नती, दीव सागर पन्नती ३९ में वे आंक लिख्या पिण दीव सागर पन्नती इह एक लिख्यो। ते एक सूत्र संभवै'।

दीव पन्नती, दीव सागर पन्नती अलग-अलग लिखे गये हैं परन्तु दोनों एक ही सूत्र की सूचना करने वाले हैं। अतः दीव सागर पन्नती एक ही सूत्र की संभावना है। वन्नियाणं वण्हीदसाओ को ३९ में अलग-अलग लिखा गया है। किन्तु वृत्तिकार ने वन्नियाणं का अर्थ नहीं किया है। वण्हिदशा का अर्थ किया गया है इसलिए दो संख्या वाले ये सूत्र एक ही हैं। इस प्रकार ३९ में २ सूत्र कम होने से ३७ सूत्र ही शेष रह गए।

१. उत्तरज्झयणानि	१७. वरुणोववाए
२. दसाओ	१८. गरुलोववाए
३. कप्पो	१९. धरणोववाए
४. ववहारो	२०. वेसमणोववाए
५. णिसीहं	२१. देविंदोववाए
६. महाणिसीहं	२२. वेलंधरोववाए
७. इसिभासियाइं	२३. उट्ठाणसुयं
८. जंबुद्दीव पण्णत्ती	२४. समुट्ठाणसुयं
९. दीवसागर पण्णत्ती	२५. नागपरिभावणियाओ
१०. चंद पण्णत्ती	२६. निरयावलियाओ
११. खुड्डिया विमाणपविभत्ती	२७. कप्पियाओ
१२. महल्लिया विमाणपविभत्ती	२८. कप्पवडिंसियाओ
१३. अंगचूलिया	२९. पुप्फियाओ
१४. वग्गचूलिया	३०. पुप्फचूलियाओ
१५. विवाहचूलिया	३१. वण्हिदसाओ
१६. अरुणोववाए	

६ सूत्रों की सूचना व्यवहार सूत्र में मिलती है।

१. आसीविस भावणाणं	४. सुमिणभावणाणं
२. चारण भावणाणं	५. महासुमिण भावणाणं
३. दिट्ठीविस भावणाणं	६. ते अग्गि निसग्गाणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी सूत्र की प्रति में 'सुमिण भावणा' का और किसी में महासुमिण भावना का उल्लेख है। व्यवहार सूत्र की टीका के सारोद्धार में सुमिण भावना नहीं है, महासुमिण भावना है। कुछ प्रतियों में सुमिण भावना तो कुछ प्रतियों में महासुमिण भावना है। लगता है कि उस समय सुमिण भावना और महासुमिण भावना एक ही ग्रन्थ के दो नाम रहे हों। व्यवहार सूत्र में जो उल्लेख किया गया उसीका नंदी की किसी प्रति में अवतरण कर दिया हो किन्तु टीकाकार ने एक का ही अर्थ किया, दूसरे की चर्चा नहीं की। अतः एक ही भावना के ग्रन्थ को मानना उचित है। नंदी की प्रतियों में 'आसीविस' आदि छह सूत्रों का उल्लेख मूल सूत्रों के साथ नहीं हैं, यदि नंदी में पहले ही उल्लेख होता तो साथ ही में इनका भी उल्लेख आ जाता। संभवतः ऐसा हो सकता है कि व्यवहार सूत्र में आए पांच नामों को तथा टीका में आई महासुमिण भावना को किसी ने नंदी की प्रति में अपनी सुविधा की दृष्टि से उल्लिखित कर दिया हो।

दीप पन्नती, दीप सागर पन्नती, वन्हियाणं, वन्हिदसाणं—इनको दो-दो गिनने से दो संख्या अधिक हो जाती है। व्यवहार के पांच और टीका की महासुमिण भावना को मिलाने से आठ संख्या हो जाती है। गुणचालीस में से आठ कम करने से इकतीस ही कालिक सूत्र होते हैं। इस प्रकार कालिक और उत्कालिक संख्या की मीमांसा की गई है।

चौरासी संख्या का निर्णय

दशवैकालिक आदि उनतीस कालिक आगम, उत्तराध्ययन आदि तीस उत्कालिक आगम, आचारांग आदि बारह अंग, एक आवश्यक सहित नंदी सूत्र में बहत्तर आगमों का उल्लेख है।

स्थानांग के दसवें स्थान में 'दस दसा' का वर्णन है,
जिसमें 'कम्मतिवाग दशा' वर्तमान में प्रचलित है।
'उपासग दसा' में दस श्रावकों का वर्णन है।
'आचार दसा' दशाश्रुत स्कन्ध के रूप में है।

'दश खेवित दसा' खुड्डिया विमाण विभत्ती आदि बेसमणोववाए पर्यन्त कालिक में उल्लिखित है। इनके अतिरिक्त जो हैं वे छह हैं, उनके नाम ये हैं—

१. अन्तगड़ दसा	[बीजी वाचना जाणवी)
२. पण्हावागरणा दसा	(बीजी वाचना जाणवी)
३. अणुत्तरोववाइ दसा	पण्हावागरणा का वर्तमान स्वरूप आगम में
४. वन्ध दसा	वर्णित स्वरूप के अनुरूप नहीं है इसलिए
५. दो गिद्धि दसा	हो सकता है कि यह वाचना अन्य हो।]
६. दीह दसा	

इन दसाओं में अलग वर्णन हैं। नंदी सूत्र से ये नाम अलग हैं। नंदी के बहत्तर, स्थानांग के छह जोड़ने पर अठहत्तर होते हैं। व्यवहार में आए हुए पांच दसाओं को और जोड़ देने से तिरासी सख्या होती है। समवायांग में भगवान् महावीर ने एक आसन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठकर चौपन अध्ययन का उपदेश दिया। पचपनवें समवायांग में कल्याण फल के पचपन अध्ययन की देशना दी। कल्याण अकल्याण फल के इस एक आगम के योग से चौरासी आगम की संख्या निष्पन्न हो गई।

२६ कालिक + ३० अकालिक + १ आवश्यक + ६ दसा + ५ भावना + १ कल्याण अकल्याण फल + १२ अंग अध्ययन = ८४ आगम।

चौरासी आगम संख्या इस प्रकार आगम के प्रमाणों से पुष्ट होती है जिनके प्रमाण यहां स्पष्ट चर्चित किए गए हैं। चौरासी आगम का एक अन्य प्रकार जैन ग्रन्थावली में है।[14]

पैंतालिस आगमों की मान्यता

जयाचार्य ने पैंतालिस आगमों की मान्यता पर समीक्षा करते हुए लिखा है--एक बार मूर्तिपूजक भाई के साथ चर्चा में ४५ और ८४ आगम को कैसे मानते हैं उसका मघवागणी ने जयसुजस में उल्लेख किया है। '४५ माने ते स्वइच्छा पिण सूत्र में नहीं'[15] पैंतालिस मानने वालों की यह मान्यता स्वइच्छा से प्रेरित है किंतु किसी सूत्र में ऐसा निर्देश नहीं है। जो पैंतालिस मानते हैं उनकी दृष्टि के अनुसार पैंतालिस आगम इस प्रकार हैं—

११ अंग
१२ उपांग
१० पइन्ना
४ छेद
४ मूल
३ निर्युक्ति
१ आवश्यक
———
४५
———

[ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस पइन्ना, चार छेद, चार मूल, तीन निर्युक्तियां (पिड़ निर्युक्ति, जीत कल्प, महनिशीथ) व एक आवश्यक पैंतालीस होते हैं। ऐसा जयाचार्य ने उल्लेख किया है।]

पैंतालिस की संख्या को जयाचार्य ने इस प्रकार उल्लिखित किया है।

पैंतालिस की मान्यता को 'जैनधर्म वरस्तोत्र' में किंचित् से भेद से इस प्रकार माना है।

इक्कारस अंगाई ११ बारस उवगाइ २३ दस पयन्नाइं ३३
छ छेय ३९ मूल चउरो ४३ नंदी अनुयोग पणयाला ४५॥

ग्यारह अंग, बारह उपांग, दश पइन्ना, छह छेद, चार मूल, नंदी और अनुयोग को मानकर पैंतालीस की संख्या पूरी की। जयाचार्य इस पर अपनी समीक्षा करते हुए लिखते हैं[16]—चउ सरण १, भक्त पइन्नो २, संथार पइन्नो ३, जीतकल्प ४, पिंड निर्युक्ति ५, मरण संथार ६—ये छह नाम सूत्र में नहीं हैं इसलिए अप्रामाणिक हैं। महानिशीथ में मिश्रण हो गया। उसमें परस्पर विरुद्ध आदेश है। अपवाद आसेवन की अनुमति है इसलिए उसको कैसे मान्य किया जाए, शेष जो बचे हैं उनकी भाष्य, चूर्णि, निर्युक्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका उपलब्ध नहीं हो रही है। किसीने उन पर अपनी लेखनी नहीं उठाई। हो सकता है आचार्यों ने उनको मान्य नहीं किया हो।

पैंतालिस और चौरासी एक साथ नहीं

जयाचार्य के जीवन में आगम की मान्यता के सम्बन्ध में एक चर्चा का विवरण मघवागणी ने प्रस्तुत किया है, वह एक नवीन दृष्टि को प्रस्तुत करता है[17]—

'तिमतर समय ना नाम नंदी में, बाकी रह्या ज्यांरा नाम।
व्यवहार अने ठाणं माहि छे विवरो, सुणो राख चित्त ठाम ॥
जे पैंतालीस माने माहिला, गुण चालीस नाम तो ताहि।
चौरासी आगम माही छे, अने छ नाम चौरासी में नाहि ॥'

यदि चौरासी आगम को मानते हैं तो ४५ की जगह आपको ३९ आगम मानने होंगे क्योंकि ८४ में ६ आगम का उल्लेख नहीं है। यदि ८४ मानते हैं तो ९० सूत्र मानने होंगे क्योंकि ४५ में छह अतिरिक्त हैं। ८४ मानने से ४५ की मान्यता नहीं बनती है, ४५ मानने से ८४ की मान्यता का न्याय नहीं बैठता है।

पईन्ने अमान्य क्यों ?

जो पइन्ने सूत्र में उल्लिखित हैं उनका विवरण निम्नोक्त है—

१. देविन्द स्तव पइन्नो	५. आउर पच्चक्खाणं पइन्नो
२. तंदुल वेयालियं	६. महा पच्चक्खाणं पइन्नो
३. गणी विज्जा पइन्नो	७. महानसीत
४. मरण विभत्ती पइन्नो	८. चंदगविज्जा

आगमों में उल्लिखित पइन्नों की समीक्षा करते हुए आगम अधिकार में लिखा है 'आउर पच्चक्खाण, गाथा ८ में पंडित मरण का अधिकार कहा गया है। गाथा ३१ में सात स्थान पर धन (परिग्रह) का उपयोग करने का आदेश है। गाथा ३० में गुरू पूजा साधर्मीनी भक्ति आदि सात बोलों का निर्देश है। आउ पच्चक्खाण की साक्षी है किन्तु भक्त पइन्ना में नाम नहीं है। सावद्य (पाप सहित) भाषा का उपयोग सूत्र में नहीं हो सकता इसलिए यह अमान्य है।

गणि विज्जा पइन्ने में भी ज्योतिष की प्ररूपणा की है। उसके उदाहरण हैं—श्रवण, धनेष्टा, पुनखसु — तीन नक्षत्रों में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। (गाथा २२) लेकिन २० तीर्थंकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगम में जिस कार्य को मान्य किया उसके विपरीत उसका निषेध करे, उसे कैसे मान्य किया जाए। उसका आधार क्या हो सकता है ? आगे वहीं आया है—किसी-किसी नक्षत्र में गुरू की सेवा नहीं करनी चाहिए, लुंचन नहीं करना चाहिए — ये सब बातें आगम में अनुमोदित नहीं हैं। इसलिए इनको मान्य नहीं किया गया है।

'तंदुल वेयालियं' में संठाण के सम्बन्ध में चर्चा है, वह आगमों में सूचित निर्देशों से भिन्न है। परस्पर मेल नहीं खाता। वहां लिखा है[18]—पांचवें आरे के मनुष्य के अंतिम संहनन और संठाण होता है। दूसरे आगमों में छह ही संठाण संहनन मनुष्यों में पाए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने की सूचना है। परस्पर विरोधाभास से बहुल वेयालियं की बात मान्य कैसे की जा सकती है। ऐसे अप्रमाणिक वचन, 'चन्दगविज्झय' गाथा ६७ में साधु के उत्कृष्ट तीन भव का उल्लेख है जबकि अन्य आगमों की मान्यता में उत्कृष्ट पंद्रह भव में मोक्ष जाता है।

'देविन्द स्तव' में स्त्री के लिए अहो सुन्दरी! आमंत्रण है। आचारांग में स्त्री के लिए बहिन का संबोधन है। सुन्दरी का संबोधन समुचित नहीं है।

'महापच्चक्खाण'[१९] गाथा ६२ में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीत्व समस्त जीव अनंतबार उपलब्ध हुए हैं। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनंतबार उपलब्ध नहीं हो सकते। यह कथन आगम विरुद्ध है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।

वृत्ति, चूर्णि, भाष्य, निर्युक्तियां भी भगवान् निर्वाण के पश्चात् रची गई हैं। जो रचयिता हैं वे आप्त पुरुष, चौदह, दश पूर्वधारी भी नहीं हैं। तब उनके द्वारा रची हुई कृतियों को आगम की तरह कैसे माना जाए। स्वयं उनके रचयिता वृत्तिकार जब संदेह से पूरित हैं, वे अपनी समझ में न आने वाले तत्व को केवलज्ञानी को सौंपते हैं। जब वे स्वयं संदेह से मुक्त नहीं हैं, तब सही आगम की व्याख्या कैसे करेंगे? उसको सब कैसे मानेंगे? आगम के अनुरूप व्याख्याएं उनकी भी मान्य हैं, और भी किसी की मान्य की जा सकती हैं, आगम के विरुद्ध और असम्मत एक वाक्य को भी कैसे माना जा सकता है।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी अपनी मति से आगम विरुद्ध मनगढ़ंत तथ्यों का निरूपण कर दिया है इसलिए वे मान्य नहीं हैं। महाकप्प में साधु और श्रावक को समान प्रायश्चित आता है। आगम ग्रन्थों में समान प्रायश्चित की चर्चा नहीं है। एक प्रसंग बड़ा विनोद भरा है। उसमें कहा गया है कि जिन मंदिर के लिए पत्थर ढोता वृषभ यदि मृत्यु को वरण कर लेता है, वह देवलोक में उत्पन्न होता है।

'जिण भवणस्स अठा भार वहंति सघड़ सयुत्ता
तेण गुणेण मरीओ खिप्पं गच्छंति सुर भवणं।'

जयाचार्य की दृष्टि स्पष्ट एवं युक्तियुक्त है। आप्त वचन को वे स्वीकार करने में तत्पर हैं। उनकी दृष्टि में ८४ अथवा ४५ या ३२ आदि का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्री कालूरामजी के पद्यमय प्रश्नों को यहां उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

'पंच अधिक चालीस तो, कह्या सूत्र जिनराम।
द्वात्रिंश तुम मानता, कुण हेतु के न्याय॥
साचा बत्तीस मानता और न मानो साच।
के कोई प्रगट्यो ज्ञान तुझ, अथवा मन की खांच॥'

जयाचार्य ने इनका उत्तर पद्यों में ही दिया जो प्रश्नोत्तर तत्वबोध के आगम एवं विसंवाद अधिकार में अंकित है।

एकादश अंग को जयाचार्य आप्त पुरुषों द्वारा ग्रंथित भगवान् महावीर का उपदेश मानते हैं। उनकी आस्था का केन्द्र ग्यारह अंग हैं, उनसे मिलते हुए उपांग एवं अन्य आगम भी मानने योग्य हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'एकादश जे अङ्ग की मिलता वचन सुजान।
सर्व मानवां योग्य मुझ पइन्ना प्रमुख पिछाण ।।'[20]

अन्य आगम न मानने के कारण

अन्य आगमों का न मानने का कारण उनमें आए हुए विषमवाद ही हैं। विषमवाद अधिकार में इस पर उन्होंने अपने विचार स्पष्ट किए हैं। भगवान् सर्वज्ञ और केवली होते हैं। उनका वचन, विषमवाद तथा व्यभिचारिक नहीं हो सकता।

पइन्नादि में मूल आगमों से विपरीत उल्लेख आता है अतः वे घटनाएं कैसे मान्य होंगी। एक प्रसंग पर वे चर्चा करते हुए प्रश्नोत्तर-तत्त्व-बोध में लिखते हैं—कल्पसूत्र में भगवान् के संहरण की चर्चा करते हुए लिखा है कि भगवान् ने उसे जाना नहीं। जबकि आचारांग में स्पष्ट है कि मैं संहरण से पहले, पीछे और संहरण करते समय इस घटना को अच्छी तरह जान रहा था। आचारांग का कथन यथार्थ है क्योंकि संहरण की क्रिया देवता द्वारा की गई स्थूल क्रिया है जिसे करते हुए देवता को भी असंख्यात समय लग जाता है। अवधिज्ञान से युक्त भगवान् ने उसको साक्षात् जाना।

निशीथ की चूर्णि के १२ वें उद्देश्य में रात्रि भोजन की अनुज्ञा है। जबकि बृहत्कल्प में शरीर के कारण से मुनि ने भोजन ग्रहण किया किन्तु बाद में संदेह हुआ कि सूर्य उदय हुआ अथवा नहीं। इसी प्रकार सूर्यास्त के समय भी भोजन ग्रहण किया। मन में संदेह हुआ कि सूर्य अस्त हुआ अथवा नहीं ऐसी शंकापूर्ण स्थिति में भोजन करने वाले मुनि को प्रायश्चित आता है।

निशीथ चूर्णि का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि रात्रि भोजन की अनुमति नहीं दी जा सकती। इस प्रकार सचित्त अम्ब सेवन की अनुमति भी नहीं दी जा सकती। भय निवारण के लिए सचित्त दण्ड भी कैसे मुनि रख सकता है। भरत को छोड़कर एक साथ १०८ ऋषभ के पुत्र एवं पौत्र सिद्ध हुए। यह अयुक्तिपूर्ण बात है। जब बाहुबलि का आयुष्य चौरासी लक्ष पूर्व का है तब एक साथ सबकी सिद्धि कैसे होगी। इसी प्रकार अनेक प्रसंग हैं जिनके द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि आगम मान्यता और अमान्यता का कारण उनकी अपनी मति नहीं है अपितु आगम का ही निर्देश है।

० आप्त पुरुष, वीतराग, सर्वज्ञ के वचन ही आगम हो सकते हैं।

० उनकी साक्षी से अवधिमनः पर्यवज्ञानी तथा दस चउदह पूर्व धारी द्वारा रचित ग्रंथ भी आगम हो सकते हैं।

० आप्त पुरुष, अवधि, मनः पर्यवज्ञानी की साक्षी के अभाव में रचित ग्रंथ, आगम की कोटि में नहीं आते।

० आप्त पुरुषों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ ग्यारह अङ्ग के अनुरूप हों तब ही उनके कथन को स्वीकार किया जा सकता है।

० आगमों के मान्य और अमान्य करने के पीछे जयाचार्य का जो स्पष्ट दृष्टिकोण है, वह आगम एवं परम्परा द्वारा पुष्ट ही नहीं, युक्ति-संगत भी लगता है।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

० आप्त पुरुष वीतराग सर्वज्ञ की ही वाणी को आगम माना जा सकता है, उसका कारण व्यक्ति विशेष नहीं अपितु वीतराग, सर्वज्ञता की अवस्था से अनुस्यूत तत्व है। वह सदा मूल सत्य को पुष्ट करने वाला स्याद्वाद वचन होता है।

० जिन आगम ग्रन्थों में विषमवाद आया हुआ है, इसलिए ही उन्हें अमान्य किया गया है।

० वीतराग-पुरुष हिंसा, परिग्रह, रात्रि भोजन आदि की अनुमति कैसे दे सकते है ? जिन आगम ग्रन्थों में इनकी अनुज्ञा दी गई हैं उन्हें आप्त पुरुष के वचन कैसे मानें ?

जयाचार्य की दृष्टि में आगमों की संख्या चौरासी, पैंतालीस आदि का आग्रह नहीं है। उनकी कसौटी का आधार स्पष्ट है। उस कसौटी पर उतरने वाले आगम बत्तीस या अधिक मान्य किए जा सकते हैं।

संदर्भ :

१. श्रीमज्जयाचार्यकृत प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, पृष्ठ-८४,८५ दोहा ९, १० प्रकाशक-जैन विश्व भारती, लाडनूं

२. वही

३. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ॥—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा २९२

४. प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, पृष्ठ ९१, दोहा-१३

५. पांच व्यवहार

६. वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिह भायणं।
पलियंक निसज्झाय सिणाणं सोह वज्जणं॥
—दसवेआलियं, अ० ६।८, जै०वि०भा० प्रकाशन

७. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधमाहुः साक्षाद धर्मस्य लक्षणम्॥—मनुस्मृति, अध्याय-२

८. '८४ आगम अधिकार' पृष्ठ—१ (अप्रकाशित), जैन विश्व भारती, लाडनूं में उपलब्ध।

९. हस्तलिखित प्रति (अप्रकाशित), जैन विश्व भारती, लाडनूं; (मुनि पुण्यविजय) संपादक 'नंदी अणुओगद्दाराइं च', प्रकाशक-श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, ई० १९६८

१०. ८४ आगम अधिकार, पृष्ठ-१

११. वही

१२. ८४ आगम अधिकार, पृष्ठ-१ (अप्रकाशित), जैन विश्व भारती, लाडनूं में उपलब्ध

१३. वही

१४. जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस से प्रकाशित-जैन ग्रन्थावली, पृष्ठ-७२

(शेषांश पृष्ठ ३४ पर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाण्यवाद

□ साध्वी योगक्षेमप्रभा

प्रामाण्य का अर्थ

अर्थ का अधिगम प्रमाण से होता है। प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है उसका उसी रूप में प्राप्त होना अर्थात् जाने हुए विषय में व्यभिचार का न होना प्रामाण्य है। प्रामाण्य के दो अर्थ लिए जा सकते हैं—प्रमाकरत्व अथवा प्रमात्व[1]। प्रथम अर्थ में यह प्रमा की प्राप्तिकर्त्ता साधन का गुण है और चूंकि प्रमाण का लक्षण प्रमा का साधन या प्रमा को देने वाला है, अप्रमा को देने वाला नहीं, अतः सभी प्रमाणों में प्रामाण्य का गुण स्वीकृत हो जाता है। दूसरे अर्थ में यह स्वयं प्रमा का ही गुण होने से प्रत्येक प्रमा रूप ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्यरूप ज्ञान में अप्रामाण्य की विद्यमानता सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में, प्रामाण्य के होने से ही प्रमा होता है और उसके अभाव में वह अप्रमा होता है।

प्रामाण्य के तत्व

प्रमाण सत्य है, इसमें कोई द्वैत नहीं, किन्तु सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्व सबके भिन्न-भिन्न हैं। अबाधितत्व, अप्रसिद्ध अर्थज्ञापन या अपूर्व अर्थ प्रापण, अविसंवादित्व, सफल प्रवृत्तिजनकत्व या प्रवृत्ति सामर्थ्य—ये सत्य की कसौटियां हैं जो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत या निराकृत होती रही हैं।

प्रभाकर मीमांसक अनुभूति को प्रमा मानते हैं। स्मृति अनुभूति से पृथक् होने से उसे प्रमा नहीं मानते। अतः उनके दर्शन में मुख्य रूप से स्मृति के अतिरिक्त सर्वज्ञान का प्रामाण्य स्वीकृत किया गया है तथा व्यवहार से अविसंवादित्व और प्रवृत्ति से सफलता का भी प्रामाण्य मान्य किया है।[2] अविसंवादिता का अर्थ है—अर्थ का अन्यथा प्रतिपादन न करना अर्थात् विषय का तद्रूप प्रतिपादन ही अविसंवादित्व है। प्रवृत्ति सफलता से तात्पर्य उस ज्ञान से है—जहां फलदायक परिणामों से प्रामाणिकता का समावेश हो। जैसे—जल ज्ञान का प्रवृत्ति साफल्य तृषा के शांत होने या स्पर्श से उसकी अनुभूति से होगा। सफल प्रवृत्ति जनकत्व या प्रवृत्ति सामर्थ्य शब्द इसके पर्यायवाची ही हैं। कुमारिल ने बोधात्मकता[3] को प्रामाण्य का नियामक माना है। बोधात्मकता का अर्थ विषय का बोध रूप है। किन्तु विषय का बोध प्रमा और अप्रमा दोनों में होने से उम्बेक ने बोधात्मकता के साथ अर्थ के अविसंवादित्व को प्रामाण्य के लिए अपेक्षित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना।[4] भाट्ट चिन्तामणि में अज्ञात विषयकत्व और अबोधितत्व को प्रामाण्य का मापदण्ड निरूपित किया है।[5] अज्ञान विषयकत्व यानी अज्ञान को विषयीकृत करना या अपूर्व अर्थ को ग्रहण करना, धारावाहिक ज्ञान को नहीं। अप्रसिद्धार्थख्यापन, अपूर्व अर्थ प्रापण इसके समानार्थक शब्द हैं। अबाधितत्व से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो किसी अन्य से बाधित न हो। अन्य ज्ञान से बाधित होने पर ज्ञान का प्रामाण्य नहीं रहता। जैसे geo-centeric अर्थात् पृथ्वी केन्द्र है तथा सूर्य पृथ्वी के चारों और घूमता है का ज्ञान Hilio-centeric ज्ञान से बाधित होने से अप्रमा हो गया। अद्वैत वेदान्ती अबाधितत्व[6] को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि में अर्थ परिच्छेद सामर्थ्य को प्रामाण्य कहा है।[7] यहां अर्थ परिच्छेद सामर्थ्य का अर्थ—विषय का ज्ञान कराने की समर्थता से है। आचार्य रामानुज ने प्रामाण्य के तीन मानदण्ड स्थापित किये हैं[8]—

(१) याथार्तीय अर्थात् ज्ञान का जो भी विषय है ज्ञान उसी को प्रकाशित कर रहा है।

(२) स्वतंत्र अर्थ प्रकाशकत्व अर्थात् ज्ञान की अपने विषय को प्रकाशित करने की स्वतंत्रता है। यहां स्मृति के प्रामाण्य का स्वयमेव निरास हो जाता है क्योंकि वह स्वतंत्र रूप से अर्थ प्रकाशन में समर्थ न होकर पूर्वज्ञान सापेक्ष होती है।

(३) सबाधकत्व।

विभिन्न दार्शनिकों का मत

न्याय और बौद्ध दार्शनिक प्रवृत्ति साफल्य को ही मुख्य रूप से प्रामाण्य की कसौटी मानते हैं।[9] जैन दार्शनिकों ने प्रामाण्य के अलग-अलग मानदण्ड स्वीकार किये हैं। विद्यानंद बाधक प्रमाण के अभाव को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं किन्तु अभयदेव[10] इसका निराकरण करते हैं। अकलंक[11] अप्रसिद्ध अर्थ ख्यापन को प्रामाण्य की कसौटी मानते हैं किन्तु वादिदेव और हेमचन्द्र इसको निराकृत करते हैं[12]। उपाध्याय यशोविजयजी ने[13] प्रवृत्ति साफल्य और बाधक प्रमाण के अभाव को प्रामाण्य की निकषा माना है। सांख्य दार्शनिकों ने प्रामाण्य का नियामक कोई मानदण्ड अलग से स्वीकार नहीं किया, वे बुद्धि में सत्व गुण की प्रधानता को ही प्रामाण्य मानते हैं[14]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक प्रामाण्य के नियामक तत्वों के बारे में एक मत नहीं हैं। जिसका कारण है—उन तत्वों की व्यापकता का सार्वदिक न होना। वैसे संवादी प्रवृत्ति और प्रवृत्ति सामर्थ्य का व्यवहार सर्व-सम्मत है। फिर भी ये प्रामाण्य के मुख्य नियामक नहीं बन सकते क्योंकि प्रमेय की शक्ति में इनकी उपस्थिति अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं है। संवादक ज्ञान प्रमेय के अव्यभिचारी ज्ञान की भांति व्यापक नहीं है। जिस तरह प्रत्येक निर्णय में तथ्य के साथ ज्ञान का सांगत्य अपेक्षित होता है, उसी तरह संवादक ज्ञान प्रत्येक निर्णय में अपेक्षित नहीं होता। प्रवृत्ति सामर्थ्य अर्थ सिद्धि का दूसरा रूप है किन्तु उसके साथ भी प्रामाण्य का अविनाभाव नहीं है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। इस प्रकार यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सार्वदिक सत्य नहीं, अतः प्रमेय के साथ अव्यभिचारी ज्ञान ही प्रामाण्य का नियामक हो सकता है अथवा प्रमाण का कर्म प्रामाण्य है, जो पदार्थ के निश्चय करने रूप लक्षण वाला हो।[15]

प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निर्धारण

प्रामाण्य के क्षेत्र में उसके नियामक तत्व की भांति यह प्रश्न भी उठता है कि प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्धारण किस प्रकार होता है। उन दोनों का ज्ञान तज्ज्ञान से होता है या तद्भिन्न ज्ञान से। अथवा इनका प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः होता है अथवा परतः। जानने के साथ-साथ "यह जानना ठीक है" ऐसा निश्चय होना स्वतः निश्चय है और जब जानने के साथ-साथ "यह जानना ठीक है" ऐसा निश्चित नहीं होता तब दूसरी कारण सामग्री द्वारा उसका निश्चय होना परतः निश्चय है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य पर पुनः ज्ञप्ति और उत्पत्ति—इन दो दृष्टियों से विचार किया गया है। ज्ञप्ति का अर्थ है—ज्ञान की दृष्टि से तथा उत्पत्ति का अर्थ है—उत्पत्ति की दृष्टि से। ज्ञप्ति तथा उत्पत्ति परस्पर भिन्न हैं। ज्ञप्ति के भी कुछ साधन होते हैं और उत्पत्ति के भी। इनमें ज्ञप्ति के साधनों को ज्ञान ग्राहक तथा उत्पत्ति के साधनों को ज्ञानोत्पादक सामग्री कहते हैं।

विभिन्न मत

जो दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्यीकरण किसी अन्य ज्ञान से नहीं हो सकता, वे स्वतः प्रामाण्यवादी कहलाते हैं। स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य स्वतः होता है; जिसका अर्थ है कि ज्ञान और उसके प्रामाण्य के कारण भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं। जिन कारणों से ज्ञान ज्ञात होता है उन्हीं कारणों से उसके प्रमात्व का भी ज्ञान हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के साथ उसके प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। यह ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद है। उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्य का अर्थ है—जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उन्हीं कारणों से उनमें प्रामाण्य की उत्पत्ति होना। इसके विपरीत परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार जब हमें ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसके प्रामाण्य के बारे में कोई निश्चय नहीं होता है, बाद में अन्य ज्ञान के द्वारा उसके प्रामाण्य का ज्ञान होता है।[16] इसी तरह उत्पत्ति की दृष्टि से उनकी मान्यता है कि ज्ञान और उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न कारणों से होती है। स्वतः अप्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य भी इसी तरह सरलता से गम्य है। ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः अप्रामाण्य का अर्थ है—किसी भी ज्ञान के अप्रामाण्य का ज्ञान उन्हीं कारणों से होता है जिससे उस ज्ञान का ज्ञान होता है तथा उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान तथा अप्रामाण्य के कारण एक ही होंगे। परतः अप्रामाण्य के अनुसार ज्ञानकरण तथा अप्रामाण्यकरण एक ही न होकर भिन्न-भिन्न होंगे।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य

भारतीय दर्शन में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मुख्यतः निम्नलिखित पक्ष हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. सांख्य मत	प्रामाण्य और अप्रामाण्य	स्वतः
२. मीमांसा मत	प्रामाण्य	स्वतः
मीमांसा मत	अप्रामाण्य	परतः
३. न्याय-वैशेषिक	प्रामाण्य और अप्रामाण्य	परतः
४. जैन मत	प्रामाण्य और अप्रामाण्य	परतः (उत्पत्ति की दृष्टि से)
जैन मत	प्रामाण्य और अप्रामाण्य	परतः और स्वतः दोनों (ज्ञप्ति की दृष्टि से)
५. बौद्ध मत	प्रामाण्य	परतः
बौद्ध मत	अप्रामाण्य	स्वतः

सांख्य मत

प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः मानने का पक्ष "सर्व दर्शन संग्रह" में सांख्य के नाम से उल्लिखित है[१७]। मूल सांख्य ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। सांख्य के स्वतः प्रामाण्य और स्वतः अप्रामाण्य के सिद्धांत का आधार उसकी तत्व मीमांसा ही हो सकती है। सांख्य दर्शन के दो मुख्य सिद्धांत सत्कार्यवाद और बुद्धि की त्रिगुणात्मकता से प्रामाण्यवाद का यह मत सहज ही आपादित होता है। सत्कार्यवाद के अनुसार सांख्य दर्शन कोई नई उत्पत्ति स्वीकार नहीं करता[१८]। व्यक्त जगत् में जो कुछ भी उत्पन्न होता है, वह अव्यक्त रूप से अपने कारण में पहले से ही विद्यमान होता है। अतः ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य भी कोई नवीन उत्पत्ति न होकर अपने कारण में पहले से ही विद्यमान होते हैं। प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञान के ही गुण हैं। किसी भी वस्तु के तथा उसके गुणों के कारण भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते अतः ज्ञान का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है।

मीमांसक मत

मीमांसक के मतानुसार प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः होता है[१९]। प्रभाकर के अनुसार सभी ज्ञान प्रमा रूप हैं। चूंकि प्रत्येक ज्ञान अपने ही विषय को प्रकाशित करता है, किसी भी ज्ञान के लिए यह संभव नहीं कि वह अपने विषय से भिन्न किसी अन्य विषय को प्रकाशित करे, यही उसका स्वतः प्रामाण्य है। या जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है, उन्हीं कारणों से उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है। प्रभाकर व्यावहारिक जीवन में प्रमा और अप्रमा के भेद को स्वीकार करते हैं। अर्थात् किसी ज्ञान के आधार पर व्यवहार करने में साफल्य मिले वहां वह प्रमा रूप तथा असफलता मिलती है तो वह ज्ञान अप्रमा रूप होगा। इस प्रकार प्रभाकर प्रामाण्य को दो दृष्टियों से देखते हैं। ज्ञान की दृष्टि से स्मृति भिन्न सभी ज्ञान प्रमा है तथा व्यवहार की दृष्टि से अविसंवाद तथा प्रवृत्ति की सफलता प्रामाण्य के द्योतक हैं। इनका कथन है कि अप्रामाण्य परतः है क्योंकि पहले सभी ज्ञान प्रमाण रूप ही उत्पन्न होते हैं, बाद में बाधक कारण के आगमन या ज्ञान की उत्पादक इन्द्रिय में दोष का ज्ञान होने से वह अप्रमाण हो जाता है। चूंकि अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः नहीं होता, ज्ञानान्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवेद्य होता है अतः अप्रामाण्य परतः है ।

शास्त्र दीपिका में नैयायिकों के परतः प्रामाण्य का खण्डन करते हुए कहा है कि प्रामाण्य को परतः मानने से अनवस्था दोष का उद्गम हो जायेगा अतः स्वतः प्रामाण्य ही युक्तियुक्त है[२०] । मथुरा तर्क वागीश भी प्रभाकर के इस मत को युक्तियुक्त मानते हैं ।[२१]

स्वतः प्रामाण्यवाद की स्थापना में कुमारिल भी वही तरीका अपनाते हैं, जो प्रभाकर ने अपनाया है । बोधात्मकता को प्रामाण्य कहकर उन्होंने भी प्रमा और अप्रमा के भेद को समाप्त कर दिया है, जो उन्हें स्वीकार्य नहीं है । बोधात्मकता के रूप में प्रामाण्य की परिभाषा में समागत दोष का निराकरण करने हेतु उम्बेक कुमारिल के पद की व्याख्या भिन्न रूप से करते हैं । बोधात्मकत्व प्रमा और अप्रमा में समान रूप से विद्यमान होता है, अतः यह अतिव्याप्त होने से लक्षण के रूप में निरूपित नहीं किया जा सकता, तदर्थ उन्होंने अर्थ अविसंवादित्व का लक्षण में निवेश किया । इससे यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि अविसंवादित्व केवल प्रमा का ही लक्षण होगा । ज्यों ही विषय में विसंवाद उत्पन्न होगा वह अप्रमा की कोटि में आ जायेगा । इससे मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद तथा परतः अप्रामाण्यवाद दोनों पुष्ट हो जाते हैं । किसी भी ज्ञान का जो विषय होता है उसका जबतक बाध न हो वह प्रामाण्यरूप ज्ञात होता है और उसका परतः बाध होने के कारण वह परतः अप्रामाण्य होता है ।

उपर्युक्त विवेचन भाट्ट मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्य और परतः अप्रामाण्य को विवेचित करता है, किन्तु यहां एक प्रश्न है—भाट्ट मीमांसक के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रकाशित नहीं है । ज्ञान का ज्ञान वे ज्ञातता से स्वीकार करते हैं अतः इस विषय में वे परतः प्रकाशवादी हैं पर उनका कथन है कि इस प्रकार ज्ञान परतः प्रामाण्य नहीं होगा क्योंकि ज्ञातता की उत्पत्ति भी ज्ञानोत्पादक सामग्री से ही होती है । किन्तु केशव मिश्र[२२] मीमांसक के इस मत का खण्डन करते हैं । चूंकि इस मत के अनुसार ज्ञान का विषय वही हो सकता है जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार हो । ज्ञान सदैव वर्तमान में उत्पन्न होता है तथा वर्तमान ज्ञातता का आधार वर्तमान पदार्थ ही हो सकता है । अतीत तथा अनागत पदार्थों का सम्प्रति कोई अस्तित्व न होने के कारण ज्ञान के द्वारा इस समय हम ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति नहीं कर सकते । फलतः समस्त भूत-कालीन और भविष्यकालीन विषय सर्वथा अज्ञात होंगे, जो अनुभव विरुद्ध है ।

ज्ञातता को स्वीकार करने से इसमें अनवस्था दोष भी आता है । क्योंकि ज्ञातता नाम का यह धर्म स्वयं भी ज्ञान का विषय है और विषय होने से इसके लिए हमें इसमें ज्ञातता का धर्म उत्पन्न मानना होगा और इस प्रकार यह अन्तविहीन शृंखला चालू ही रहेगी । जैसे यथार्थ ज्ञान की ज्ञातता का बोध स्वतः होता है वैसे अयथार्थ ज्ञान की ज्ञातता भी स्वतः संवेद्य होनी चाहिए । फलतः अप्रामाण्य भी परतः न होकर स्वतः होना चाहिए किन्तु यह बात उनके परतः अप्रामाण्य के विरुद्ध है ।

इन दोषों से बचने हेतु पार्थसारथी ने[२३] कहा है कि वास्तव में सत्य ज्ञान सत्य ही उत्पन्न होता है और मिथ्या ज्ञान मिथ्या ही । प्रमात्व और अप्रमात्व ज्ञान के गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं और प्रारम्भ से ही ये ज्ञान में विद्यमान रहते हैं। अप्रमा ज्ञान भी प्रारम्भ में प्रमा रूप ही उत्पन्न होता है, बाद में अप्रमा रूप सिद्ध होता है। यहां पुनः प्रश्न हो सकता है कि तब तो प्रामाण्य की भांति अप्रामाण्य भी उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः ही हुआ। उसका निराकरण ऐसे हो सकता है कि ज्ञान करण का अपना स्वभाव दोष रहित ही होता है तथा ये दोष रहित कारण स्वभावतः ही प्रमा रूप ज्ञान को उत्पन्न करते हैं किन्तु जब कभी उनमें बाहर से दोष उत्पन्न हो जाते हैं, तब वह अप्रमा रूप ज्ञान को पैदा करते हैं। इन्द्रियों के स्वभाव के विपरीत बाहर से दोष आने से परतः अप्रामाण्य पैदा होता है।[२४]

ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य की चर्चा में कुमारिल कहते हैं कि किसी भी ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान उसके बोधात्मकत्व की प्राप्ति के साथ ही हो जाता है तथा इसके अप्रामाण्य का ज्ञान उसके बाधक प्रत्यय या उस ज्ञान के कारण में दोष का पता लगने से होता है। अतः ज्ञप्ति की दृष्टि से भी प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः है।

नैयायिक मत

किन्तु नैयायिक[२५] प्रामाण्य के स्वतः होने का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही परतः होते हैं।[२६] वह भी उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों दृष्टि से। नैयायिकों[२७] का कहना है कि यदि ज्ञान प्रामाण्य स्वतः गृहीत हो तो यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं, इस प्रकार का संशय ज्ञान की प्रामाणिकता के विषय में उत्पन्न नहीं हो सकता। उनके अनुसार प्रमाण की प्रमाणता का ज्ञान उन्हीं कारणों से नहीं होता जिनसे प्रमाण की उत्पत्ति होती है प्रत्युत संवाद से प्रामाण्य और बाधक प्रत्यय से अप्रामाण्य आता है। नैयायिक प्रामाण्य का निश्चय अनुमान, जो ज्ञान ग्राहक सामग्री से भिन्न है, से मानते हैं और यह अनुमान के बाद तदनुसार हुई प्रवृत्ति की सफलता पर निर्भर है। जैसे हमें कहीं पानी का ज्ञान हुआ। तदनुसार हम पानी पीने वहां गये और पानी की उपलब्धि होने पर हम अनुमान करेंगे कि पहले जो हमें "वहां जल है" इस प्रकार का ज्ञान हुआ था, वह सर्वथा सत्य था। इसके विपरीत यदि वहां जाने पर पानी उपलब्ध नहीं होता तो हमारी प्रवृत्ति बिफल हो गई और तब हमने अनुमान से यह ज्ञान किया कि यहां पर पानी का जो ज्ञान था वह अप्रमाण था। इस प्रकार ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः सिद्ध होते हैं। तथा उत्पत्ति की दृष्टि से भी ज्ञानोत्पादक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि सामग्रियों से भिन्न—गुण और दोष से ही क्रमशः ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति होती है।

यद्यपि न्याय दर्शन के विरुद्ध अनवस्था दोष की आपत्ति की जाती है किन्तु यह ठीक नहीं। हम प्रामाण्य का अर्थ ज्ञान तथा बाह्य जगत् में सामंजस्य स्थापित करना समझें तब प्रामाण्यीकरण में दोष की संभावना है किन्तु ज्ञान का वास्तविक अर्थ विषय-विशेष की ओर संकेत करना है। ज्ञान न ही मनुष्य को उस स्थान पर ले जाता है जहां विषय है और न ही विषय को ज्ञाता के पास उठा लाता है। ज्ञान में विषय का संकेत ज्ञाता में क्रिया की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है तथा उस क्रिया की सफलता ही उस विषय की प्राप्ति तथा ज्ञान का प्रामाण्य है। विषय की प्राप्ति होने से हमारी वह इच्छा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ण हो जाती है, फिर किसी अन्य क्रिया का जन्म नहीं होता। इस प्रकार अनवस्था दोष का निराकरण हो जाता है।

जैन मत

जैन मत में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है लेकिन ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोनों होती है।[२८] जैन न्याय में बताया गया है कि प्रामाण्य का निश्चय अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होता है। आ० विद्यानंदी ने प्रमाण परीक्षा में[२९] लिखा है कि अभ्यास होने से प्रामाण्य का निर्णय स्वतः सिद्ध हो जाता है और अनभ्यास के कारण प्रामाण्य का निर्णय पर से होता है। आचार्य माणिक्य नंदी ने परीक्षामुख में कहा है कि प्रामाण्य स्वतः, परतः दोनों होता है यानी ज्ञप्ति अभ्यास दशा में स्वतः किन्तु अनभ्यास दशा में किसी स्वतः प्रमाणभूत ज्ञानान्तर से यानी परतः होती है। जैसे जिन स्थानों का हमें परिचय होता है उन जलाशयादि में होने वाला जल ज्ञान या मरीचिका ज्ञान स्वयं अपनी प्रमाणता या अप्रमाणता ज्ञापित कर देता है किन्तु अपरिचित स्थानों में होने वाले जल ज्ञान की प्रमाणता का ज्ञान घटचेटिका पेटक[१०] आदि उदाहरणों से जान सकते हैं। जैसे—पनिहारियों का पानी भरकर लाना, मेढकों का टर्राना, शीतल वायु का स्पर्श, कमलों की सुगन्ध आदि परनिमित्तों से जल ज्ञान की सत्यता का निर्णय किया जाता है। इसी तरह जिस वक्ता के गुण और दोषों का हमें परिचय है, उसकी प्रमाणता या अप्रमाणता हम स्वतः जान लेते हैं पर अन्य के वचनों की प्रमाणता के लिए हमें दूसरे संवादी कारणों की अपेक्षा रहती है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य सर्वप्रथम तो परतः ही गृहीत होते हैं। आगे परिचय और अभ्यास के कारण अवस्था विशेष में भले ही स्वतः हो जायें। गुण और दोष दोनों वस्तु के धर्म हैं। वस्तु या तो गुणात्मक होती है या दोषात्मक। अतः गुण का स्वरूप कहकर उसका अस्तित्व उड़ाया नहीं जा सकता। दोनों की स्थिति बराबर होती है। यदि काच का मल आदि दोष है तो निर्मलता आदि गुण है। अतः गुण और दोष रूप कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही उत्पत्ति की दृष्टि से परतः ही हैं। किन्तु प्रथम प्रमाण के प्रामाण्य के अवबोधक प्रमाण की प्रामाणिकता परतः नहीं होती क्योंकि संवादक प्रमाण किसी दूसरे प्रमाण का ऋणी बनकर सही जानकारी नहीं देता। कारण कि उसे जानकारी देने के समय उसका ज्ञान करना नहीं है अतः उसके स्वतः ता परतः होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बौद्ध मत

बौद्ध दार्शनिकों के प्रामाण्य को परतः और अप्रामाण्य को स्वतः मानने का पक्ष सर्वदर्शन में समुल्लिखित है किन्तु मूल बौद्ध ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। आचार्य शांतरक्षित ने बौद्धों का पक्ष अनियमवाद के रूप में स्वीकार किया है।[३१] वे कहते हैं—प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः, दोनों परतः, प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः, प्रामाण्य परतः इन चार नियम पक्षों के अतिरिक्त पांचवा अनियम पक्ष भी है जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को अवस्था विशेष में स्वतः और अवस्था विशेष में परतः मानने का है। यही पक्ष बौद्धों को इष्ट है।

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रमाण की तरह प्रामाण्य के बारे में भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय चिन्तकों में नाना मत हैं। किन्तु प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है या परतः है यह विभाग ग्राह्यवस्तु की अपेक्षा से है। ज्ञान के स्वरूप को ग्रहण करने की अपेक्षा उसका प्रामाण्य निश्चय अपने आप होता है।

संदर्भ :

1. Gangesh's theory of truth-Introduction, p. 2
२. भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० ७६
३. तस्मात् बोधात्मकेनस्वतः।—श्लोकवार्तिक, २।५३
४. यत्रार्थाविसंवादित्वमस्ति तत्र प्रामाण्यम्।—तात्पर्य टीका, पृ० ५४
५. भाटट् चिन्तामणि, पृ० १३
६. वेदान्त परिभाषा, (प्रत्यक्ष परिच्छेद)
७. अद्वैत सिद्धि, पृ० १२
८. तंत्र रहस्य (गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरिज), पृ० ३
९. भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० ७४
१०. सन्मती प्रकरण, पृ० ६१४
११. तत्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५
१२. प्रमाण मीमांसा
१३. ज्ञानबिन्दुप्रकरण
१४. भारतीय दार्शनिक समस्याएं, पृ० ७१
१५. प्रमाण कर्म प्रामाण्यं परिच्छित्ति लक्षणम्।—न्यायविनिश्चयटीका, १।१२८
१६. ज्ञान ग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं परतस्त्वतम्।—दर्शन मीमांसा
१७. प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिता।—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २७९
१८. अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्म निवृत्तो धर्मान्तरोत्पतिः परिणामः।—युक्तिदीपिका, ९ बृहदा० उप० भाष्य १।२।१, सांख्य कारिका-९
१९. न्याय रत्नमाला, पृ० ३१, श्लोकवार्तिक, २।५३
२०. शास्त्र दीपिका, पृ० २१३-२१४
२१. चिन्तामणि रहस्य, पृ० ११७
२२. तर्कभाषा (प्रामाण्यवाद)
२३. न्याय रत्नमाला, पृ० ३१
२४. आप्त मीमांसा (तत्व दीपिका परिच्छेद), कारिका-३, पृ० ५
२५. न्याय कंदली, पृ० ९१
२६. न्याय मंजरी, पृ० १७४
२७. प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपतितः।—कारिकावली-१३६
२८. प्रमाणनयतत्वालोक, १।२१
२९. प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा।—प्रमाण परीक्षा
३०. प्रमेयरत्नमाला, १।१३
३१. न हि बौद्धेरेषां चतुर्णा मे कतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः अनियमपक्षस्येष्ट त्वात्। तत्वसंग्रह-पंजिका कारिका, ३१२३ □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह-दर्शन

□ समणी मल्लिप्रज्ञा

जैन-आचार-दर्शन के दो प्राणभूत तत्त्व रहे हैं—अहिंसा और अपरिग्रह। किन्तु दुर्भाग्य से दूसरे तत्त्व को गौण कर दिया यानी भुला दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अहिंसा भी निस्तेज होती चली गई और स्वयं सही स्थान पर प्रतिष्ठित भी नहीं हो सकी, इससे हिंसा को खुला समर्थन मिलने लगा और इसका सिलसिला बढ़ता ही गया। आज तो स्थिति यह बन गई है कि पूरी मानव जाति विनाश के कगार पर खड़ी है। ऐसी भयावह स्थिति में हिंसा का मूल कारण है "परिग्रह"। इस मूलभूत तथा यथार्थ तथ्य पर बारीकी से चिंतन-मनन व विश्लेषण करने की जरूरत है। इतना ही नहीं, अपरिग्रह के सिद्धांत को हृदयंगम करने के लिए भी हिंसा और परिग्रह का स्वरूप तथा इनका संबंध निरूपण अत्यावश्यक है।

हिंसा का अर्थ एवं स्वरूप—भारतीय चिंतन में हिंसा पर बहुत विचार हुआ। यहां कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं का विश्लेषण जरूरी है। प्रवचनसार[1] में हिंसा की परिभाषा की गई है—

'अशुद्धोपयोगो हि छेदः·········स एव च हिंसा।'

उपर्युक्त कथ्य में दो शब्द व्यवहृत हुए हैं। १. अशुद्ध और २. उपयोग। तात्पर्य यह है कि रागद्वेष युक्त प्रवृत्ति हिंसा है। कोई भी व्यक्ति रागावश हिंसा में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसका मतलब हुआ कि भीतर में बैठा राग (परिग्रह) बाहर में होने वाली हिंसा के लिए आहार का कार्य करता है। इसी संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण परिभाषा को प्रस्तुत किया जा सकता है—

'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'[2]

दो तत्त्व विश्लेषणीय हैं। एक तो प्रमत्तयोग और दूसरा प्राणव्यपरोपण। इस आधार पर ही जैन विचारणा में हिंसा के दो रूप बतलाए जाते हैं। हिंसा का अभ्यान्तर पक्ष प्रमाद कहलाता है और बाह्य पक्ष प्राणवध के रूप में प्रकट होता है। पारिभाषिक रूप से इसे भावहिंसा और द्रव्यहिंसा कहा जा सकता है। इस प्रकार परिग्रह की पृष्ठभूमि में ही हिंसा का अर्थ निर्धारण किया जा सकता है।

भगवान् महावीर[3] ने हिंसा का दार्शनिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में निरूपण किया है। यथा—"·······एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।"

यह हिंसाग्रंथि है, मोह है, मृत्यु है और नरक है। हिंसा प्राणी के चित्त को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रथित करती है इसलिए ग्रंथि है, वह मूढ़ता को पैदा करती है, इसलिए मोह है, वह मृत्यु की ओर ले जाती है इसलिए मृत्यु है, वह विपुल वेदना उपलब्ध करवाती है इसलिए नरक है।

हिंसा को दंड शब्द के द्वारा भी व्याख्यायित किया गया है। ठाणं[4] में तीन प्रकार के दंडों का उल्लेख मिलता है—'तओ दंडा पण्णत्ता, तं जहा-मणदंडे, वइदंडे, कायदंडे।' इसके साथ ही पांच प्रकार के दंड भी बतलाए गए हैं—"पंच दंडा पण्णत्ता[5], तं जहा-अट्ठादंडे, अणट्ठादंडे, हिंसादंडे, अकस्मादंडे, दिट्ठीविप्परियासियादंडे।" उत्तराध्ययन[6] में भी इस रूप में हिंसा को समझाया गया है। आधुनिक संदर्भ में संकल्पजा-आक्रमणात्मक हिंसा, विरोधजा-सुरक्षात्मक हिंसा, उद्योगजा-अर्जनात्मक हिंसा और आरंभजा-निर्वाहात्मक हिंसा आदि विविध प्रकारों को समझा जा सकता है।

हिंसा के परिणाम—अब प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रकार की हिंसा करने से क्या प्राप्त होगा। तब उसके परिणामों की चर्चा की गई। भगवान् महावीर ने कहा[7]—(हिंसक व्यक्ति) केवली प्रज्ञप्त धर्म को नहीं सुन सकता, आत्मा विशुद्ध बोधि का अनुभव नहीं करता, मुंड होकर, घर छोड़कर सम्पूर्ण अनगारिता साधुपन को नहीं पाता, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य (आचार) को प्राप्त नहीं करता, संपूर्ण संयम के द्वारा संयत नहीं होता। संपूर्ण संवर के द्वारा संवृत्त नहीं होता, इसी प्रकार अनेकानेक आध्यात्मिक उपलब्धियों से वंचित रह जाता है। बौद्ध साहित्य में भी हिंसा के दुष्परिणामों का वर्णन मिलता है—हिंसक व्यक्ति जगत् में नारकीय जीवन का और अहिंसक स्वर्गीय जीवन का सृजन करता है। अंगुत्तर निकाय में कहा गया है[8]—"भिक्षुओं तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है जिसे नरक में जाना पड़ता है। या तो स्वयं हिंसा करे चाहे दूसरों से करवाए अथवा करने का अनुमोदन करे।" अतश्च ज्ञाताधर्मकथा में—"हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं, हिंसैव दुरितार्णवः हिंसैव, नरकं घोरं, हिंसैव गहनं तमः। यत्किंचित्संसारे शरीरिणां, दुःखशोकमय बीजम्।"[9]

आयारो[10] में कहा गया है—"आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा" दुःख हिंसा से उत्पन्न होता है—(यह जानकर तू सतत अप्रमत्त रहने का अभ्यास कर) दूसरा सूत्र—'आरंभजीवी ययाणुपस्सी'-आरम्भजीवी मनुष्य को भय का दर्शन (या अनुभव) होता रहता है।

यह सार्वभौम सत्य है कि सभी जीवों में जिजीविषा होती है। कोई भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होना चाहता। इसी तथ्य को आर्षवाणी में कहा गया है—"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं।"[11]

किसी जीव को यदि जीवनदान देना हमारे हाथ में नहीं तो उसे हम मार किस अधिकार से सकते हैं। बिना अधिकार और निर्दयतापूर्वक जीवों का वध करना इससे तो सामान्य व्यक्ति भी फल निकाल लेगा कि उसे तो नरक ही मिलना चाहिए। यह तर्कसंगत भी है क्योंकि जिस प्रकार का साधन होगा तदनुरूप साध्य सिद्ध होगा। आत्मा यदि दुष्प्रवृत्त है तो निश्चित ही दुःख और भय प्राप्ति का कारण बनेगी तथा उससे सब दुःखदायी बन जाएगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सभी प्रत्यक्ष, परोक्ष परिणामों को देखते हुए यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि फिर व्यक्ति हिंसा क्यों करता है। इस परिप्रेक्ष्य में विभिन्न दृष्टियों से कारणों का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण रहेगा।

हिंसा का कारण—हिंसा एक है, कारण असंख्य हैं। कर्मवाद की भाषा में, "कम्ममूलं"[12] च जं छणं। हिंसा का मूल कारण है पूर्वकृत कर्मों का विपाक। विज्ञान की भाषा में रासायनिक असंतुलन।

भगवान् महावीर ने[13] कारण का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया—

'इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए,

जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं।'

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण के लिए, दुःख प्रतिकार के लिए (मनुष्य हिंसा करता है)।

जिजीविषा—प्राणियों में अनेक प्रकार की एषणाएं होती हैं, उनमें जीने की इच्छा अत्यधिक प्रबल और प्रथम है। जीने का अभीप्सु मनुष्य परिग्रहण का संचय करता है। क्रूरकर्म और हिंसा करता है। इस प्रकार जिजीविषा कर्म का स्रोत है, यह दुःख का आवर्त है। इसके साथ-साथ वह जीवन के पोषणार्थ, सम्मानार्थ, पूजनार्थ, जन्म-मृत्यु और बंधन मुक्ति के लिए तथा दुःख निवारण के लिए भी हिंसा कर्म करता है। ये सभी निमित्त हिंसा के प्रबल कारण बनते हैं।[14]

इनका वर्गीकरण प्रश्नव्याकरण[15] सूत्र में उपलब्ध होता है—

१. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ, ५. हास्य, ६. वैर, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. योग, ११. अर्थ, १२. कर्म, १३. धर्म, १४. पराधीनता और १५. मोह।

जैन-दर्शन में संपूर्ण प्राणीजगत् को दो भागों में विभक्त किया गया है—१. स्थावर, २. त्रस। इनकी हिंसा का प्रयोजन भी अनुभूतगर्भितगद्य में निरूपित किया गया है—'इच्चत्थं[16] गढिए लोए।'

'जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढवि-सत्थं संमारंभेमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिंसई।' मनुष्य जीवन आदि के लिए (पृथ्वीकायिक जीव निकाय की) हिंसा में आसक्त होता है। वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी संबंधी क्रिया में व्याप्त होकर पृथ्वी कायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल उन्हीं की हिंसा नहीं करता किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है—'हिंसाविवेगपदं[17]।'

'से बेमि-अप्पेगे……………………वहंति।'

प्रस्तुत सूत्र में त्रसजीवों के हिंसा के कारणों की चर्चा की गई है। लोग मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सींग, दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और मज्जा आदि के लिए अनेक जीवों का वध करते हैं। लोग प्रयोजनवश ही हिंसा नहीं करते, बिना प्रयोजन के भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। प्रतिशोध, प्रतिकार और आशंका के वशीभूत होकर लोग हिंसा करते हैं।

मनुष्य सुन्दर दीखने के चक्कर में न जाने कितने जानवरों की सौंदर्य प्रसाधन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामग्री के लिए उनकी जीवनलीला समाप्त कर देता है। इसलिए कहा गया है—इन्द्रिय भोग हिंसा का बहुत बड़ा कारण बनता है। वासनापूर्ति के लिए बीजू (जानवर) को मारकर इत्र तैयार किया जाता है। शरीर को सुखद लगे ऐसे परिधानों के लिए छोटे-छोटे मासूम निर्दोष जानवरों की खींच-खींच कर खाल उतारी जाती है। यह सारी अनावश्यक हिंसा है जिसका कोई सिर, पैर नहीं। ये ऐसी आवश्यकताएं हैं जिनका कोई पार नहीं। अतः आवश्यकता बढ़े और हिंसा न बढ़े यह असंभव है।

हिंसा के वैज्ञानिक निर्धारक—शरीर शास्त्रीय दृष्टि से हिंसा के दो[१८] आंतरिक कारण हैं—

१. नाड़ी तंत्रिय असंतुलन, २. रासायनिक असंतुलन। केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण भाग स्वागत्तनाड़ी संस्थान है। इसमें अनुकम्पी नाड़ी संस्थान और परानुकंपी नाड़ी संस्थान ज्यादा सक्रिय होने से व्यक्ति न चाहते हुए भी हिंसक बन जाता है। २. उपर्युक्त मस्तिष्कीय कारण सूक्ष्म ग्रंथितंत्रीय कारण हैं। क्योंकि पीयूष-ग्रंथि से स्रावित स्राव का प्रभाव अधिवृक ग्रंथि पर कम होता है क्योंकि इसका स्राव तीव्र हो जाता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। चेतना[१९] के स्तर पर हिंसा के आंतरिक कारण कई हैं—१. भावनात्मक तनाव, २. मानसिक चंचलता, ३. अहं भावना, ४. हीन भावना, ५. वैचारिक आग्रह और मिथ्यादृष्टि-कोण।

मनोवैज्ञानिक कारण—मनोवैज्ञानिक कारण[२०] का समर्थक तत्त्व है—तनाव। तनाव दो प्रकार का होता है—आवेशजन्य और अवसादजन्य। क्रोध और लोभ का तनाव आवेशजन्य और निराशा, निष्क्रियता, निठल्लेपन से उत्पन्न अवसाद जन्य है। दोनों प्रकार के तनाव व्यक्ति को हिंसा की ओर ले जाते हैं।

घृणा, भय और ईर्ष्या आदि निषेधात्मक विचार और व्यवहार हिंसा के बहुत बड़े कारण बनते हैं।

हिंसा मौलिक मनोवृत्ति नहीं—कुछ मनोवैज्ञानिकों—फ्रायड, मैक्डूगल आदि ने हिंसा (संघर्ष) को एक मौलिक मनोवृत्ति कहा है लेकिन आधुनिक अनुसंधान ने यह सिद्ध किया कि हिंसा का कारण मौलिक मनोवृत्ति न होकर सामाजिक व्यवस्था के मानदण्ड ही वैयक्तिक हिंसा से लेकर विश्वयुद्ध तक का कारण बनते हैं।

महात्मा गांधी ने कहा—प्रतिहिंसा व्यवहार हिंसा की ज्वाला को प्रज्वलित करती रहती है।

१. **एकाधिकार मनोवृत्ति**—प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने की धुन में अकृत्य करने से भी नहीं हटता। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर बाज की दृष्टि रखता है। विकासशील देशों में बाजार फैलाकर उन पर अपनी साम्राज्यवादी नीति लादने की कोशिश करता है। वह सर्वशक्तिशाली राष्ट्र का खिताब जीतना चाहता है—'अकडं करिस्यामित्ति मण्णमाणे।' मैं वह करूंगा, जो समाज में आज तक किसी ने नहीं किया। यह घिनौना विचार सदैव हिंसा को खुला समर्थन देता रहा है।

२. **सामाजिक व आर्थिक विषमता**—हिंसा एक कार्य है, वह कारण नहीं, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण तो आधुनिक विषमता की खाई बनती है। इसलिए बहुत बार हिंसा विवशता की कुक्षी से जन्म लेती है। भूखा व्यक्ति बगावत नहीं करेगा तो क्या करेगा? यदि संपन्न लोग क्रूरता से मुक्त हों तो हिंसा का बीज अंकुरित नहीं हो सकता। जमींदार भूमिहीनों के प्रति करुणाशील नहीं है, देश के कर्णधार युवा हाथ डिग्री लिए रोजगार की तलाश में भटक रहे हैं। न्यायालय से न्याय शब्द गायब होता जा रहा है। पुलिस और अपराधियों की सांठगांठ यथार्थ पर पर्दा डाल देती है। ये स्थितियां हिंसा के बीज अंकुरित करने के लिए उर्वरा बन सकती हैं। एक व्यक्ति की जीवनरक्षा के लिए आधुनिक चिकित्सा[२१] में बहुत सारे निर्दोष प्राणियों को जीवन रहित किया जाता है। अलग-अलग किस्म की दवाइयों के निर्माण में अनगिनत जानवरों का खून वगैरह काम में लिया जाता है। साथ में पहला प्रयोग भी उन्हीं पर होता है, जिसके जहर से वे समाप्त तक हो जाते हैं। जब व्यक्ति ने अपने आपको श्रेष्ठ मानकर दूसरों से भेद रेखा खींची तब से उसकी सुख-सुविधा के लिए छोटे जीवों का नाश बढ़ता जा रहा है। इसीलिए आचार्य भिक्षु का करुण हृदय बोल उठा—"रांका ने मार धींगा ने पोखै।"

संबंध निरूपण—उपर्युक्त सभी कारणों की चर्चा करके भी यह चर्चा शाखा, फूल-पत्तों के रूप में हुई है। तब प्रश्न उठता है कि हिंसा का ऐसा कौनसा कारण है जो दूसरे-दूसरे निर्माताओं को उद्दीप्त करता है? वह मूलभूत जड़ है—अहंकार और ममकार (मैं और मेरा) सारी की सारी स्थूल व सूक्ष्म हिंसा इस एक तत्त्व द्वारा संचालित होती है। अतः दोनों का संबंध निरूपण जरूरी है। हिंसा का संबंध परिग्रह से जुड़ा हुआ है। एक प्रसंग में जब आचार्य सुधर्मा से पूछते हैं—'भगवान् महावीर की वाणी में बंधन क्या है?'—प्रत्युत्तर में आचार्य सुधर्मा कहते हैं—'परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है, संबंध का हेतु है ममत्व। जहां परिग्रह है वहां हिंसा का होना निश्चित है। परिग्रही व्यक्ति ही प्राणियों का वियोजन करता है।'

एक नदी के दो कूल—परिग्रह और हिंसा परस्पर सघनता से प्रतिबद्ध हैं। ये दोनों एक ही वस्त्र के दो छोर हैं। एक को रखकर दूसरे को छोड़ना असंभव है। परिग्रह है तो हिंसा रहेगी और हिंसा है इसका मतलब है भीतर परिग्रह बैठा है[२२] ...... कभी-कभी आवश्यक प्रतिक्रमणात्मक हिंसा आदि को अहिंसा मानने में हम मानसिक संतुष्टि भले ही कर लें, सिद्धांत की सुरक्षा नहीं होगी। जहां रागात्मक और द्वेषात्मक परिणति हो और हिंसा न हो, यह कभी संभव नहीं।

अविनाशी संबंध[२३]—इच्छा ज्यादा + परिग्रह (पदार्थ) ज्यादा = हिंसा ज्यादा। यह गणितीय संबंध है, त्रैकालिक सत्य है। इन तीनों की आत्यान्तिक व्याप्ति है। इनमें से किसी एक को पृथक नहीं किया जा सकता। हम लोग केवल शीर्ष की चर्चा करते हैं, मूल को भुला देते हैं।[२४]...... हिमखंड का सिरा दिखाई देता है, बर्फ का पहाड़ पानी में छिपा रहता है। इसी तरह हिंसा एक भयंकर समस्या लगती है किन्तु उसकी आग तो बहुत गहरे छिपी रहती है। उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। जरूरत है—छिपे हिमखंड को देखने की। आकांक्षा को खुली छूट देकर भय, शस्त्र निर्माण और हिंसा को कम करने की बात सोचना व्यर्थ है।

हिंसा मात्र क्रिया है—हमें हिंसा की क्रिया एक बड़ी समस्या लगती है। वास्तव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में वह मूल समस्या नहीं है, वह एक अभिव्यक्ति है। मूल समस्या है—अविशती तथा यह एक अमर प्यास है जिसे जितना मिटाने का प्रयत्न करेंगे इसकी प्यास गुणित होती चली जाएगी यथा[२५]—

'सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखिया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया॥'

अतएव आयारो में भगवान् महावीर ने एक अनुभूत सत्य का उद्घाटन किया—'अग्गं[२६] च मूलं च विगिंच धीरे।' हे धीर तू (दुःख के) अग्र और मूल का विवेक कर। बीज की सत्ता, उर्वरभूमि, जल का सिंचन—सब कुछ मिले और बीज अंकुरित न हो ......यह वैसी ही चाह है जैसे कि वायुमण्डल में मीथेन, ओजोन सी ओ, नाइट्रोजन-आक्साइड की मात्रा बढ़े और पृथ्वी का तापक्रम न बढ़े। शोरगुल हो और ध्वनिप्रदूषण न हो, पवित्र जल में रंगीन द्रव्य और कूड़ा कचरा बहाया जाए और जल प्रदूषण न हो, यह कभी सम्भव नहीं। लेकिन पदार्थवादी चेतना से ग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि स्थूल पर पड़ती है। वर्तमान में सांप्रदायिकता, जातियता, आतंकवाद, भाषावाद, प्रान्तीयता, सामाजिक-आर्थिक विषमता आदि रूपों में होने वाली हिंसक घटनाओं को रोकने के लिए तथा दूसरे देशों के आक्रमण करने की आशंका में बहुत सारे देश अरबों रुपयों को शस्त्र निर्माण में लगा रहे हैं। ऐसे उपक्रमों से हिंसा बढ़ी है। यह निर्विवाद सत्य है, इसका सबल प्रमाण है दो-दो महायुद्ध। इससे न केवल प्रतिहिंसा का ही जन्म होता है अपितु नाना प्रकार के समाज गतिरोधक तत्त्व भी पनपते चले जाते हैं। यथा—गरीबी, भूखमरी, शोषण, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, गड़बड़घोटाले, बेरोजगारी, निरक्षरता इत्यादि।

अतः यथार्थ में हिंसा को सीमित अथवा समाप्त करने के लिए इसके मूल प्रेरणा-स्त्रोत (परिग्रह) सिद्धांत को भलीभांति समझना होगा। अपरिग्रह दर्शन की व्याख्या भी बिना परिग्रह की व्याख्या के पूरी नहीं हो सकती। जब तक परिग्रह का तत्त्व ज्ञात नहीं होगा तब तक अपरिग्रह के तत्त्व को जानना कठिन होता है, इसलिए दोनों का ज्ञान एक दूसरे के निमित्त है।

अब सर्वप्रथम परिग्रह के स्वरूप का विश्लेषण अपेक्षित है। अनेक परिभाषाएं दी गई—'लोभकषायो दयाद्विषयेषु संगः परिग्रहः।'[२७] पुनश्च प्रश्नव्याकरण[२८] में 'लोक—परिग्गहो रिम्मणवरेहिं भणिउतो।'

संसार की जितनी भी प्रवृत्तियां हैं वे सारी लोभ से संचालित होती हैं। क्रोधादि कषाय व विषयभोग आदि तो इसकी पैदाइश है। वास्तव में लोभ ही संसार के समस्त पदार्थों को ग्रहण करने, अपनाने, उपयोग करने और संग्रह करने में प्रबल प्रेरक तत्त्व है। इसलिए लोभ की मनोवृत्ति परिग्रह है, ऐसा ठीक कहा गया। यह परिभाषा परिग्रह के एक पक्ष के विशेष लक्षण को ही निर्देशित करती है। इसलिए एक और परिभाषा विमर्शनीय है जो परिग्रह के सही स्वरूप का चित्रण करती है—

'मुच्छापरिग्गहो वुत्तो। इसी के समर्थन में ममेदबुद्धि लक्षणः परिग्रहः पुनश्च जे ममाइय यतिं जहाति, से जहाति ममाइयं[२९]।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह का अर्थ है— ममत्व बुद्धि। जो पकड़ा गया है वह परिग्रह नहीं, जो पकड़े हुए है वह परिग्रह नहीं। परिग्रह है—पकड़, मन की पकड़ यानी मूर्च्छाभाव। यह मैं, मेरी मां, मेरी बहिन जैसा कि आयारो[10] में उल्लेख है। यह मेरा, यह पराया—मन की यह भावना ही परिग्रह है। वस्तु का धर्म गुण है। वस्तु का उपयोग उसकी सार्थकता है, परिग्रह नहीं। वस्तु की मात्रा परिग्रह नहीं है। हालांकि व्यवहार में परिग्रह का अर्थ संग्रह है। उसके प्रति हमारा भाव, उसके प्रति हमारा व्यवहार परिग्रह है। हमारे प्रति उसका व्यवहार परिग्रह नहीं। इसीलिए दशवैकालिक[11] सूत्र में कहा गया है—

> जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं।
> तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
> न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
> मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥

धर्मपालन अथवा संयम निर्वहन के लिए जो भी वस्तुएं ममत्व भाव से ग्रहण या धारण की जाती हैं वे सब परिग्रह की कोटि में नहीं आतीं। परिग्रह वही कहलाएगा जब कोई वस्तु ममत्वबुद्धि से ग्रहण की जाएगी।

विचारणीय प्रश्न है कि वस्तु के प्रति हमारी पकड़ कितनी गहरी है। मूर्च्छा की सघनता से दृष्टि पदार्थोंमुखी हो जाती है। उससे अधिक से अधिक भौतिक संसाधन जुटाने का प्रयत्न होता है। उनका उत्पादन, असीमित कामनाएं व्यक्ति को हिंसा के लिए बाध्य करती हैं। वह झूठ और चोरी का भी सहारा लेता है। जितना झूठ उतना तनाव, जितना तनाव उतने रोग, उतनी मानसिक व भावनात्मक विकृतियां। विकृत मानसिकता, रुग्ण समाज को जन्म देती है। इसलिए बाह्य संग्रह से अधिक भीतरी मूर्च्छा का भाव परिग्रह की सही पहचान बनता है।

परिग्रह के प्रकार—उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर ही परिग्रह के दो प्रकार किए गए—१. बहिरंग परिग्रह, २. अंतरंग परिग्रह। दो प्रकारों में भी प्रथम स्थान अंतरंग परिग्रह को ही दिया गया। जब आत्मा अपने निजी स्वभाव ज्ञान, दर्शन चारित्र युक्त, शुद्ध, पवित्र भाव को छोड़कर क्रोधादि कषायों या त्रिशल्यों, हास्यादि विकारों या रागद्वेषादि के रंजित होती है तब ये सारे विकार आत्मा के लिए अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रह[12] बतलाये गये हैं—१. मिथ्यात्व, २. राग, ३. द्वेष, ४. क्रोध, ५. मान, ६. माया, ७. लोभ, ८. हास्य, ९. रति, १०. अरति, ११. शोक, १२. भय, १३. जुगुप्सा और १४. वेद।

ममत्वबुद्धि से ग्रहण किए जाने पर बाह्य पदार्थ भी बहिरंग परिग्रह बन जाते हैं। शास्त्रों[13] में इसे १० भागों में विभक्त किया गया है—१. क्षेत्र, खेत, नगर, गांव, राष्ट्र, २. वस्तु—मकान, बंगला और दुकान, ३. हिरण्य—सोना-चांदी, ४. सुवर्ण, ५. धन—हीरा-पन्ना। ६. धान्य—गेहूं आदि अनाज, ७. द्विपद चतुष्पद, ८. दासी-दास, ९. कृत्य—सोने-चांदी के अतिरिक्त वस्त्र, बर्तन, पलंग आदि का सामान, १०. धातु, तांबा, पीतल आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संग्रह की अन्धी दौड़ में आज का विश्वमानव बस तो क्या हजारों प्रकार के पदार्थों का परिग्रह करने में लगा हुआ है। जैसे ही बाजार में कोई नया मॉडल आता है उसे सबसे पहले खरीदने की फिराक में रहता है। आधुनिकता की अधूरी समझ से व्यक्ति वर्णनवादी संस्कृति का दास बनकर रह गया। कठपुतले की जिन्दगी बसर कर रहे हैं। मूलभूत दो प्रकार के होते हुए भी भिन्न-भिन्न संदर्भों में अलग-अलग प्रकार बतलाए गए। परिग्रह के तीन प्रकार स्थानांग[34] सूत्र में बतलाए गए हैं। असंयम के रूप में परिग्रह का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है।[35]

अन्य परिग्रह वैचारिक परिग्रह-वर्तमान शीतयुद्ध वैचारिक परिग्रह का एक परिणाम है। विचारों का परिग्रह वस्तुओं से ज्यादा खतरनाक होता है। हम जैसा जीवन पसंद करें, हमारे जो विचार हों, भावनाएं हों, वैसा ही दूसरों का होना चाहिए। यही होता है वैचारिक परिग्रह। मैं कहता हूं वही सत्य है, मेरा विचार ही अच्छा, मननीय है तथा मैंने जो प्रस्ताव किया वह पारित होना ही चाहिए जिसके कारण बहुत सारे लड़ाई-झगड़े, मन-मुटाव, तनाव, छींटाकशी हो जाती है। लाभ से लोभ बढ़ता है। दो मासे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं होता।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर तथा अन्य दृष्टियों से प्रश्न व्याकरण के ३० पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं, इनका विस्तार से वर्णन भी उपलब्ध होता है, जो प्रतीकात्मक स्वरूप से परिग्रह शब्द का प्रतिनिधित्व करते हैं। जैसे—१. परिग्रह, २. सचय इत्यादि।[36]

परिग्रह के प्रेरक—परिग्रह के कारणों की सुन्दर ढंग से चर्चा प्रस्तुत की गई है। परिग्रह एक महावृक्ष है। तृष्णा और महाभिलाषा जड़ है—क्योंकि प्राप्त पदार्थों की संरक्षण रूप तृष्णा और अप्राप्त की महत्वाकांक्षा पर ही यह परिग्रह वृक्ष टिका हुआ है। यदि ये दोनों नष्ट हो जाएं तो परिग्रह का वृक्ष गिर जाएगा। किसी चिंतक ने ठीक ही कहा है—'तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति।' लेकिन मनुष्य के अरमान और उसकी इच्छा की लालसा अवस्था के साथ असीम होती चली जाती है जैसा कि सुन्दरदास ने बहुत ही सटीक लिखा है—

> **'जो दस बीस पचास भये, सत होई हजार तूं लाख मांगैगी।**
> **कोटि अरब, खरब, असंख्य, पृथ्वीपति होये की चाह जगैगी॥**
> **स्वर्ग पाताल को राज करवै, तृष्णा अधिकी आग लगैगी,**
> **सुन्दर एक संतोष बिना ठह, तेरी तो भूख कबुन भगैगी॥'**

कषाय चतुष्टय और मोहराजा—इस परिग्रहवृक्ष का महास्कन्ध है। उपलब्ध और अनुपलब्ध पदार्थों के प्रति आसक्ति लोभ है। आसक्ति[37] को ही परिग्रह कहा जाता है। किसी इष्ट का वियोग और अभद्र का संयोग होने पर परस्पर कलह होता है। कलह के साथ क्रोध, अभिमान और छल-कपट का गठबंधन ही है। ये तीनों लड़ाई-झगड़े के मूल कारण हैं। जितने भी महाभारत लड़े जाते हैं उनके पीछे मूलभूत प्रेरणा परिग्रह की रहती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिताओं का भार—नाना प्रकार की शांति भंजक चिंताएं इस प्रकार के वृक्ष की शाखाएं है। एक चिंता पूरी ही नहीं होती कि बस दूसरी चिंताए उठ खड़ी होती हैं। जनसामान्य भाषा में कहा गया है—

'अर्थानाम दुःख, अर्जितानां च रक्षणे।
आए दुःखे, व्यये दुःख, धिगर्थाः कष्टसंजयाः ॥'

इसीलिए चिंताओं को परिग्रहवृक्ष के चारों ओर फैली शाखाएं कहा जाता है। छल-प्रपंच—इस परिग्रहवृक्ष की त्वचा है जो कि संग्रह के लिए अपने रंग बदलती है।

कामयोग—इस परिग्रह के मद फल और फूल हैं, जो कि गरीब-अमीर सभी को परिग्रह की ओर आकृष्ट करते रहते हैं। महावीर ने प्रतिपादन किया कि 'काया[३८] दुरतिक्रमा' काम दुर्लंध्य है। परिग्रह का मूल है काम। काम-भोगों की आसक्ति ही व्यक्ति को अर्थसंग्रह के लिए प्रेरित करती है। भोग ही नहीं, तत्पश्चात् धन से कुछ असंयत लोगों के उपभोग के लिए सन्निधि और संचित करता है। अतः भगवान् महावीर[३९] ने सीधी सरल भाषा में कहा—'कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति।'

हमने देखा कि दुःखगर्भित परिग्रहण (संग्रह की मनोवृत्ति) आदि, अंत और मध्य सभी स्थितियों में कष्टदायी बनती है। आज जितनी भी विश्वशांति विरोधी घटनाएं घटित हो रही हैं उनका मूलभूत कारण है—परिग्रह से जन्मी सामाजिक, आर्थिक विषमता।

परिग्रह के परिणाम—आध्यात्मिक दृष्टिकोण—अध्यात्म की आधारशिला है—त्याग या विसर्जन। इसके प्रतिपक्षी परिग्रह से भोगवादी संस्कृति का निर्माण होता है। परिग्रहग्रस्त व्यक्ति अध्यात्म के आचरण से कोसों दूर ही रहता है। उसे सुनना भी कम पसंद करता है। उस सही स्थिति का एक सूत्र में चित्रण किया गया है—'ण एत्थ[४०] तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति'। परिग्रह में अनुरक्त महापुरुष में न तप, न दम और न नियम देखा जाता है। तप का प्रासंगिक अर्थ है—स्वादविजय, आसनविजय आदि। दम का अभिप्राय है—इन्द्रिय विजय, कषाय विजय आदि और नियम से तात्पर्य है योग/उपभोग/सामग्री का सीमांकन।

प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण—प्रश्न व्याकरण[४१] में कहा गया—'परलोके च निष्टाः।' इस संसार में हम कोई भी प्रवृत्ति करते हैं उसके पीछे हमारा उपयोगिता का दृष्टिकोण रहता है, प्रयोजन सिद्धि की बात रहती है। हम चाहते हैं कि हमारा परलोक अच्छा हो, यहां भी सुख से रह सकें। लेकिन परिग्रह दोनों ही प्रयोजनों को नष्ट कर देता है तथा संसार परिभ्रमण का कारण बनता है। आयारो[४२] में स्पष्ट उल्लेख मिलता है—'जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे।'

गुण से तात्पर्य—इन्द्रिय विषयों से है। ये लोभ हेतुक हैं अर्थात् इनसे कषाय बढ़ते हैं। कषाय से संसार बढ़ता है—जन्म मरण की परंपरा पड़ती है। इससे बंधन मुक्ति का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है।

प्राकृतिक दृष्टिकोण—प्रवृत्ति संतुलन का सबसे बड़ा शत्रु है—परिग्रह भाव। इससे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृतिक संपदा का अन्धाधुंध दोहन किया जाता है, जिससे पर्यावरण का सतुलन बिगड़ जाता है। उसका यही चिंतन रहता है कि मैं पिऊं, मेरा बैल पिए, फिर चाहे कुआं ढह पड़े। इसलिए वह प्रकृति के साथ भी खिलवाड़ करने से बाज नहीं आता। आज वनों की कटाई, जानवरों की जाति-प्रजातियों का नष्ट होना, वायु, जल, वायु प्रदूषण जैसे अमानवीय कृत्य प्रकृति के संतुलन को बिगाड़ने में सबसे ज्यादा अहम भूमिका अदा करते हैं। परिणामतः मनुष्य का रह पाना भी मुश्किल व खतरे से खाली नहीं है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—संग्रह की मनोवृत्ति संघर्ष को जन्म देती है। संग्रह की मूल प्रेरणा है—इच्छा। इस पूर्ति में व्यक्ति दिन-रात एक कर देता है और चिंताग्रस्त रहता है। मानसिक बीमारियों का शिकार हो जाता है। आजकल तो बड़ी-बड़ी उद्योग-शालाओं, कार्यालयों में मनोचिकित्सक रखे जाते हैं। हर अस्पताल में मानसिक इलाज की व्यवस्था रहती है। सारा परिग्रह की बढोतरी का कुपरिणाम है। आधुनिक अनु-संधानों के अनुसार वर्तमान में हर बीमारी का ७० प्रतिशत मानसिक कारण होता है। इसलिए प्रायः बीमारी के आगे मनोवैज्ञानिक शब्द जोड़ा जाता है क्योंकि व्यक्ति मानसिक तनाव, चिंता, विषाद आदि मनोवृत्तियों से घिरा रहता है। भगवान् महावीर बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने अनुभव के स्तर पर सारगर्भित सत्य का अनावरण किया—

'अहो य राओ य परितप्पमाणे[४३]**·········।'**

संक्षेप में परिग्रह स्वभाव से ही रहित विरोधी तत्त्व रहा है इसलिए वर्तमान की मुख्य तथा गौण सभी समस्याओं, श्रमहीनता, बेरोजगारी, गरीबी, शोषण, आतंक, भ्रष्टाचार, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति, हिंसक व्यवहार, युद्ध संभावना इत्यादि का मूलभूत कारण परिग्रह ही बनता है। अतः परिग्रह को समझना जरूरी है।

इस प्रकार परिग्रह के स्वरूप विश्लेषण से अपरिग्रह सिद्धांत स्पष्ट होने पर भी अपरिग्रह सिद्धांत की दार्शनिक व्याख्या इस पत्र का मूल उद्देश्य है।

अपरिग्रह दर्शन—भगवान् महावीर ने विश्व के सामने तीन मौलिक चिंतन प्रस्तुत किए। उसमें एक नई सोच थी। वह है—अपरिग्रह का दर्शन। आज अहिंसा पर जोर-शोर से सभा-सम्मेलनों का आयोजन, संस्थात्मक शोधपरक कार्य चल रहा है। लेकिन जब तक अपरिग्रह-दर्शन जीवनव्यापी नहीं बनेगा तब तक वार्तमानिक समस्याओं को विराम नहीं दिया जा सकता है। अतः आधुनिक वैषम्यपूर्ण वातावरण में समाधानकारक अपरिग्रह सिद्धांत को समझना युग की अनिवार्यतम आवश्यकता महसूस होती है।

अपरिग्रह का अर्थ है—स्वस्थ होना। अपने "स्व" में स्व-अवस्थित होना। परिग्रह का अर्थ है अस्वस्थ होना। अस्व है, हमारा स्व नहीं है। स्व के बाहर का वस्तु जगत है इसमें अवस्थित हो गया।[४४] हम वस्तु नहीं, वस्तु हम नहीं। फिर भी हम वस्तुस्थ होते हैं, स्वस्थ नहीं। वस्तु स्वस्थ है, अपने में स्थित है, इसलिए वह न अपरिग्रही होती है न परिग्रही। परिग्रह का अर्थ है—पकड़। पकड़ हमारी है, वस्तुओं के प्रति हमारे ही भीतर। यह जो पकड़ है इसका न वस्तु जगत् में लाभ न अन्तर्जगत् में। अतः अपरि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रह का एक अर्थ है ।

साधना पक्ष—अपरिग्रह यानी आत्मनिष्ठा । परिग्रह का विश्वास पदार्थ में है, अपरिग्रह का स्वयं में । अपरिग्रह का मूलभूत संबंध संग्रह से नहीं, संग्रह की वृत्ति से है । जो उसका संबंध संग्रह से ही मान लेता है वह संग्रह के त्याग में ही अपरिग्रह की उपलब्धि देखता है, जबकि संग्रह का महत्त्वपूर्ण दबावपूर्वक त्याग की वस्तुओं में ही विश्वास है । वह परिवर्तन ऊपरी है । व्यक्ति का अन्तस्थल उससे अधूरा ही रह जाता है । इसलिए संग्रह नहीं, संग्रह की मनोकामना विचारणीय है । स्वयं की आंतरिक रिक्तता और खालीपन को भरने के लिए ही व्यक्ति संग्रह की आड़ में भाग लेता है । रिक्तता से भय पैदा होता है और उसे किसी भी भांति धन, यश, बल, सत्ता पुण्य तथा ज्ञान से भर लेने में अपने आपको सुरक्षित मानने लगता है । वास्तव में संग्रह की शक्ति ही असत्य है । क्योंकि वह शक्ति स्वयं की नहीं है । शक्ति तो वही सत्य है जो कि स्वयं की हो ।

आंतरिक अपरिग्रह के बिना बाह्य परिग्रह का त्याग ज्यादा लाभकारी नहीं होता । वह अहं पुष्टि का निमित्त बनकर दूसरा रूप धारण कर लेता है । इसलिए विचारों व वृत्ति के स्तर पर जो अपरिग्रह साध लेता है वह समाधि को उपलब्ध हो जाता है ।

परिग्रह की वृत्ति परमात्मा, स्वर्ग, मोक्ष जाने के लिए सहज ही छोड़ी जा सकती है । लेकिन वह वास्तविक अपरिग्रह नहीं है । जहां कुछ भी पाने की चाह है, चाहे वह मोक्ष भी क्यों न हो, वहां परिग्रह है, आसक्ति है । यह रागरूप लोभ का अन्तहीन रूपान्तर है ।

वास्तविक अपरिग्रह तो तभी प्रतीत होता है जब भीतर की चाह समाप्त हो जाए—

'मोटी माया सब तजी, झीनी तजी न जाए ।
पीर, पैगम्बर, ओलिया, झीनी सबको खाय ।।'

जिस दिन चाह समाप्त हुई उसी क्षण मोक्ष का साक्षात् अनुभव हुआ । अर्थात् साररूप में परिग्रह का अर्थ है बंधनमुक्ति ।

व्यवहार पक्ष—इस अनुच्छेद में अपरिग्रह दर्शन का साधना की दृष्टि से विवेचन किया गया है । यह भी प्रत्येक व्यक्ति का चरम लक्ष्य होता है ।

आचार्य श्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत आचार संहिता सर्वोपयोगी है । उसी प्रकार संघ महावीर ने गृहस्थ जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिए परिग्रह परिमाण व्रत की प्ररूपणा की । उन्होंने धीरे-धीरे अपरिग्रह सिद्धांत को जीवनगत बनाने की प्रक्रिया बताई इसलिए आयारो में[61] एक सूत्र दिया गया—'लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।' ज्यों-ज्यों अलोकात्मक से लोकात्मक वृत्ति उपशांत होती है त्यों-त्यों प्राप्त कामभोग रूप परिग्रह भी नीरस लगने लगता है । वह उनसे उपरत होता हुआ पदार्थोयुक्त परिग्रह चेतना से पदार्थयुक्त अपरिग्रह चेतना में उपस्थित हो जाता है । यह सूत्र सबके लिए मननीय है, तभी आयारो में अपरिग्रह के स्वीकारण की बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबके लिए आवश्यक बताते हुए प्रतिपादन किया गया है—

'जहा[46] पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥'

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि अपरिग्रह का सिद्धांत धनी व्यक्तियों के लिए जितना हितकर होता है उतना ही गरीबों के लिए भी । क्योंकि धन दोनों के पास नहीं, एक के पास है । किन्तु मूर्च्छा दोनों में है । दोनों ही अभाव महसूस करते हैं । इसलिए आयारो[47] में कहा गया है—'जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं ।' जब यह भावना रहती है तब तक परिग्रह का त्याग नहीं हो सकता । अतः मूर्च्छा भाव छोड़ने का प्रयास जरूरी है ।

उपर्युक्त अध्याय में विभिन्न जैनागमों व जैनेतर साध्वियों के संदर्भ देते हुए मुख्य रूप में आचारांग में वर्णित अपरिग्रह सिद्धांत का विविध दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है ।

संदर्भ :

१. प्रवचन सार, २१६
२. तत्वार्थ सूत्र, ७।८
३. आयारो, १।२।२५
४. ठाणं, ३।२४
५. वही, ५।१११
६. उत्तराध्ययन, ३१०, ३११४
७. ठाणं, २।४१-५१
८. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५३
९. ज्ञाताधर्मकथा, १९।५८
१०. आयारो, ३।१।१३
११. दशवै०, ६।१०
१२. आयारो, ३।२१
१३. वही, १।१०
१४. आयारो भाष्य (हिन्दी अनुवाद)
१५. प्रश्नव्याकरण
१६. आयारो, १।२६-२६
१७. वही, १।१४०
१८. अहिंसा और शांति, पृ० ५१-५२
१९. वही
२०. अहिंसा के अछूते पहलू, पृ० १९
२१. गांधीवाद को विनोबा की देन
२२. अहिंसा और शांति, पृ० ६४
२३. वही, पृ० १९
२४. वही, पृ० ८
२५. उत्तराध्ययन, ९।४८
२६. आयारो, ९।३४
२७. सर्वार्थसिद्धि विनिश्चय, ४।२१
२८. प्रश्नव्याकरण, पृ० ४८०
२९. आयारो
३०. वहा
३१. दशवै०, ६
३२. प्रश्नव्याकरण सूत्र १९६
३३. वही
३४. स्थानांग ३।९५
३५. वही, ७।८३, पृ० ७३८
३६. प्रश्नव्याकरण सूत्र ५।१८
३७. दशवै० ६।२१
३८. आयारो
३९. वही
४०. वही २।५९
४१. प्रश्नव्याकरण सूत्र, ५।२०
४२. आयारो, २।१
४३. वही, २।३
४४. सुना है मैंने आयुष्मान, पृ० ५९
४५. आयारो, २।३६
४६. वही, २।१७४
४७. वही, २।१५६

हिन्दी जैन काव्य का साधनात्मक स्वरूप

□ डॉ० मंगल प्रकाश मेहता*

'भक्ति' शब्द 'भज' धातु में स्त्रीलिंग 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है भजना। व्यास ने 'पूजादिएवानुराग इति पराशर्यः' पूजादि में प्रगाढ़ प्रेम को ही भक्ति माना है।[1] शांडिल्य अपने भक्ति-सूत्र में 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं।[2] भागवत में निष्काम भाव से स्वभाव की प्रवृत्ति का सत्यमूर्त भगवान् में लय हो जाना भक्ति कहा गया है।[3] इस प्रकार भक्ति द्वारा इष्टदेव और भक्त का अटूट सम्बन्ध स्थापित होता है। भक्ति, भक्त और भगवान् के प्रगाढ़ सम्बन्ध की आधारशिला है।

भक्ति, ज्ञान और कर्म

भक्ति का ज्ञान और कर्म के साथ अटूट सम्बन्ध है। विचारपूर्ण कर्म गति है। किसी गति के साथ जब विचार सम्मिलित हो जाता है तब उसकी संज्ञा कर्म होती है। तमोगुणी व्यक्ति विचारशून्य होता है, अतः जड़ कहलाता है। जड़त्व के ऊपर राग-द्वेष-पूर्ण रजोगुण की स्थिति है। रजोगुणी व्यक्ति क्रियाशील होता है। रजोगुण से ऊपर सत्वगुण की स्थिति है। यह ज्ञान और प्रकाश का क्षेत्र है। तम रज में तथा रज सत् में विलीन हो जाता है। सत् भाव में विलीन होता है। भक्ति एक भाव ही है। अतएव कर्म और ज्ञान का पर्यवसान भक्ति में होता है। कर्म और ज्ञान दोनों ही भक्ति की उपलब्धि के लिए साधन बनते हैं। भक्ति स्वयं आनंदरूप प्रभु की प्राप्ति के लिए साधन रूप है।

जैन भक्ति का स्वरूप

नारद-भक्तिसूत्र और शांडिल्य-सूत्रों की भांति जैन भक्ति परम्परा में किसी भक्ति-सूत्र का निर्माण नहीं हुआ, किन्तु अनेक जैन सैद्धांतिक ग्रन्थों में भक्ति सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध होता है। जिनसेनाचार्य के मतानुसार 'अर्हत्सु योनुरागो यश्चाचार्ये बहुश्रुते यश्च। प्रवचनविनयश्चासौ चातुर्विध्यं भजति भक्तेः।[4] अर्थात् अर्हन्त में जो अनुराग है, आचार्यों में जो अनुराग है, बहुश्रुत अनेक शास्त्रों के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी में जो अनुराग है और प्रवचन में जो विनय है वे क्रमशः अर्हद् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति नामक चार भावनाएं हैं।

* शोधाधिकारी (सहायक सम्पादक—'तुलसी प्रज्ञा'), जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुराग ही भक्ति

सोमदेव सूरि 'जिने जिनागमे सूरो तपः श्रुतपरायणे । सद्भावशुद्धि संपन्नोनुरागो भक्तिरुच्यते'[५] को भक्ति कहते हैं। अर्थात् जिन-भगवान् में, जिन-भगवान् के द्वारा कहे हुए शास्त्र में, आचार्य में और तप और स्वाध्याय में लीन मुनि आदि में विशुद्ध भाव-पूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं। जयसेन के अनुसार 'अनन्तगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्तिः'[६] अर्थात् अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों में अनुराग भक्ति है। अपराजित सूरि 'अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः'[७] तथा 'वदननिरीक्षणादिप्रसादेनाभिव्यज्यमानान्तर्गतोनुरागो भक्तिः'[८], हेमचन्द्राचार्य 'भक्तिः प्रवचने विनयवैयावृत्यरूपा प्रतिपत्तिः'[९], राजमल्ल 'तत्र भक्तिरनोद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात्'[१०] को भक्ति कहते हैं। पूज्यपाद के मतानुसार 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोनुरागो भक्तिः'[११] अर्थात् अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना अरिहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति है। किन्तु वीतराग भगवान् में जो स्वयं राग रहित हैं और जो राग त्यागने का उपदेश देते हैं, अनुराग कैसे सम्भव है, यह राग कैसा ही हो वह कर्मबन्ध का कारण है।

बन्ध का हेतु

आचार्य कुन्दकुन्द के मतानुसार वीतराग भगवान् में किया गया अनुराग पाप के बन्ध का कारण नहीं है।[१२] आचार्य योगीन्दु की मान्यता है कि 'पर' में होने वाला राग ही बन्ध का हेतु है, 'स्व' में होने वाला नहीं। वीतरागी परमात्मा 'पर' नहीं, वह 'स्व' आत्मा है। अतः जिनेन्द्र में राग करना अपनी आत्मा से ही प्रेम करना है। 'स्व' में राग करने वाला मोक्षगामी होता है।

इसके अतिरिक्त वह ही राग बन्ध का कारण है, जो संसारिक स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया हो। निष्काम अनुराग में कर्मों को बांधने की शक्ति नहीं होती। वीतराग में किया गया अनुराग निष्काम है। वीतराग पर रीझकर ही भक्त ने वीतराग में अनुराग किया है। इसके परिवर्तनार्थ यदि वीतराग भगवान् अपने भक्त से अनुराग करने लगे, तो भक्त का रीझना ही समाप्त हो जायगा। भक्त भगवान् से न दया चाहता है और न अनुग्रह, न प्रेम ही।

सम्यक् श्रद्धा

आचार्य हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण' में श्रद्धा को ही भक्ति कहा गया है। 'पाइअ-सद्दमहाण्णवो' में भी भक्ति के साथ सेवा और श्रद्धा की गणना की है। श्रावक शब्द के लिये 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में लिखा है—'श्रन्ति पचन्ति तत्वार्थश्रद्धानं *निष्ठां नयन्तीति श्राः।'*[१३] *श्रावक श्रद्धा द्वारा ही आत्म-साक्षात्कार का फल प्राप्त* कर लेता है। वह अपनी आत्मा को देखने का प्रयास नहीं करता, किन्तु जिनेन्द्र में श्रद्धा करता है। जिनेन्द्र और आत्मा के स्वभाव में ऐक्य है। अतः वह जिनेन्द्र को, श्रद्धा से, अपनी शुद्ध आत्मा से परिचित हो जाता है। किन्तु इस श्रद्धा का सम्यक् (शुद्ध) श्रद्धा होना आवश्यक है। जैन शास्त्रों में अन्धश्रद्धा की चर्चा नहीं है। अतः जैन आचार्यों ने सुश्रद्धा के प्रगाढ़ रूप को ही भक्ति कहा है। श्रद्धा ही जैन भक्ति की आधार-भूमि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनेन्द्र वन्दना

'निशीथचूर्णि' के अनुसार "अब्भट्ठाणदंडग्गहण-पाय-पुच्छणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा ना सा भत्ति।"[14] अर्थात् आचार्य के सम्मान में खड़े होना, दण्ड ग्रहण करना, पद प्रक्षालन, आसन प्रदान करना आदि सेवा ही भक्ति है। किन्तु यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जैन सिद्धान्तों के अनुसार जिनेन्द्र न कर्ता है न भोक्ता, फिर भक्त अपनी स्तुतियों में उसे कर्ता के रूप में क्यों स्मरण करता है। क्योंकि जिनेन्द्र स्वयं वीतराग है। ऐसे वीतराग भगवान् को न पूजा की आवश्यकता है और न वन्दना की। वे निन्दा से मुक्त हैं, क्योंकि वे वैरभाव से मुक्त हैं। भक्त अपने कर्त्ता के पुण्य गुणों का स्मरण कर चित्त को पाप-मलों से पवित्र करता है। भगवान् को भक्त के इस स्मरण का भान भी नहीं होता, किन्तु उन्हीं के गुणों के स्मरण से भक्त का चित्त पाप रहित हो पवित्र होता है। अतः भक्त उन्हें कर्ता ही कहता है। इसी दृष्टि को बल प्रदान करने के लिए जैन भक्तों ने अपनी रचनाओं में जिनेन्द्र वन्दना की है।

इस प्रकार अर्हन्त में अनुराग, सुश्रद्धा के प्रगाढ़ रूप, सेवा आदि को भक्ति कहा गया है। हिन्दी कवियों को, साधनात्मक क्षेत्र में, जैन कवियों का दिव्य अवदान प्राप्त हुआ है। जैन कवियों की रचनाओं में उपलब्ध ज्ञान, कर्म, योग, समरसता, माया, दाम्पत्यमूलक प्रेम विषयक दृष्टि ने हिन्दी कवियों का साधनात्मक मार्ग प्रशस्त किया है।

सन्दर्भ :

१. नारद-भक्ति-सूत्र, १६
२. शांडिल्य-भक्ति-सूत्र, १।१।१
३. श्रीमद् भागवत्, स्कन्द ३, अध्याय-२५, श्लोक ३२-३३
४. हरिवंश पुराण, ३४-१४१
५. उपासकाध्ययन, २१५
६. प्रवचनसार, ३-४६
७. भगवती आराधना, ४७
८. वही, ११७
९. योगशास्त्र, २-१६
१०. पंचाध्यायी, २-४७०
११. सर्वार्थसिद्धि, ६,२४
१२. जैन शोध और समीक्षा, पृ० ३८
१३. अभिधान राजेन्द्र कोश, पृ० ७७९
१४. जैन शोध और समीक्षा, पृ० ३९

(शेषांश पृष्ठ ११ का)

१५. ८४ आगम अधिकार, पृष्ठ ५

१६. पंच अने चालीस में, जे चिहु शरण विचार।
भक्त नाम परिज्ञा वलि, पुन पईन्ना संथार॥
जीत कल्प, पिंड निर्युक्ति पचखाण कल्प अवलोय
ए षट् नी नंदी बिषे, साख नहीं छे कोय —प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, पृष्ठ ६०

१७. आचार्य जीतमलजी का व्याख्यान

१८. पुव्वि मणुयाण छ विह संघयणे आसी, तं जहा—समचउरंसे झावहुंडे।
सपइ खलु आउसो हुंडे संठाणे वट्टइ।

१९. देविंद चक्कवट्टी तणाइं रज्जाइं उत्तमे भोए।
पत्तो अणंत खुत्तो नयहुंति तितया तो वी॥

२०. प्रश्नोत्तर-तत्त्वबोध, पृष्ठ ६१, दोहा ५१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुमतितंत्र का शकराजा और उसका कालमान

□ डॉ० परमेश्वर सोलंकी*

भारतीय ज्योतिष का एक ग्रन्थ नेपाल देश की स्टेट लाइब्रेरी में सुरक्षित है। उसकी एक प्रति बृटिश म्यूजियम, लंदन में (सैसिल बैण्डल सूचीपत्र सन् १९०२ का क्रमांक ३५६४) भी सुरक्षित है। नेपाल के राजगुरू के अनुसार वह ग्रन्थ संवत् ६३३ (सन् ५७६) में लिखा गया था किन्तु नेपाल में सुरक्षित प्रति उसकी गोमोलिपि के आधार पर १२ वीं सदी में लिखी मानी जाती है।[1]

स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल ने सुमतितंत्र के संबंधित पत्रक का फोटोग्राफ प्राप्त किया था जो भारती प्रकाशन, वाराणसी से सन् १९७६ में प्रकाशित "क्रोनोलोजी एण्ड हिस्ट्री ऑफ नेपाल" के पृष्ठ ३८ पर छपा है। ब्लॉक से पढ़ने पर पंक्ति २ से ५ तक का मूल पाठ निम्न प्रकार पढ़ा जाता है—

यातास्तथा युगानां वै कृतत्रेताथ द्वापरम्।
भविष्यं संप्रविक्ष्यामि कालिकं वै यथाक्रमम्॥
जातो दुर्योधनो राजा कलि (काल) प्रवर्त्तने।
युधिष्ठिरो महाराजो दुर्योधनस्तथाऽपिवा॥
उभौ राजा (नौ) सहस्रद्वयर्द्धन्तु सम्प्रवर्त्तति।
नन्द राज्यं शताष्टवींश्चन्द्र गुप्तस्ततः पर॥
राज्यङ् करोति तेनापि द्वात्रिंशच्चाधिकं शत (म्)।
राजा शूद्रकदेवश्च वर्ष सप्ताब्धिचाश्विनौ॥
शक राजा ततः पश्चाद्वसुरन्ध्र कृतन्तथा।
इत्यध्याषित मही ज्ञेया राज्ञा क्रमेण तु॥[2]

अर्थात् कृत, त्रेता और द्वापर युगों के बीतने पर यथाक्रम आगे का कालक्रम कहता हूं कि कलियुग—प्रवर्त्तन पर राजा दुर्योधन हुवा और महाराजा युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन के पश्चात् २५०० वर्ष बीत रहे होते समय अथवा नन्दराजा के १२८ वर्ष, चन्द्रगुप्त के १३२ वर्ष, राजा शूद्रकदेव के २४७ वर्ष और उसके बाद ४९८ वर्ष और बीतने पर शक राजा हुवा।

इस प्रकार विक्रमपूर्व कलियुग के ३०४३ वर्षों में २५०० वर्ष बीतने पर अर्थात् ५४३ वर्ष विक्रम पूर्व अथवा कलियुग आरंभ से १५०० वर्ष बाद राजा बने नंद राजा से १००५ वर्ष बाद अर्थात् ५३८ वर्ष विक्रम पूर्व शक राजा हुवा।

* अनेकान्त शोध पीठ, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

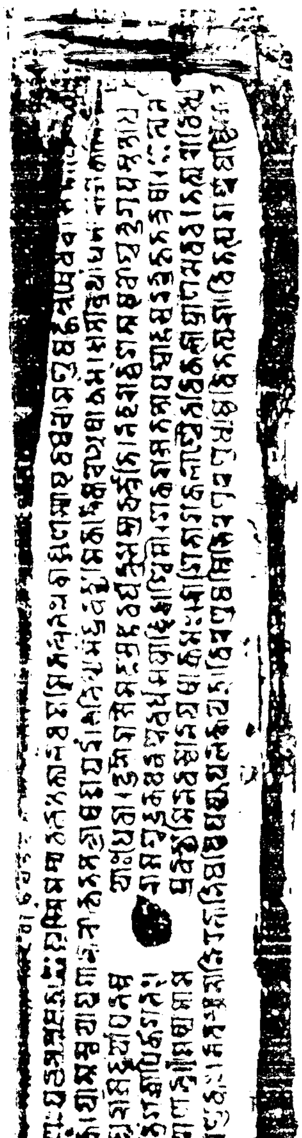

Leave of the Sumati-tantra

२. सन् १६२७ में दी पंजाब ओरियन्टल संस्कृत सीरिज नं. १६ से छपी प्रो० आर. सी. मजूमदार की पुस्तक "चंपा" में काम्बोज राजाओं के कतिपय लेख और उनके ब्लॉक छपे हैं। उन लेखों में शकपति संवत्सर प्रयुक्त है जो ब्रह्मा देश के राजा देवळ के ऐतज़्मा संवत्सर से मेल खाता है।

राजा देवळ का ऐतज़्मा संवत्सर ब्रह्मा में प्रचलित कौक्जद संवत्सर के ८६४० वर्ष पूरे होने पर उसे प्रयोगशून्य करके चालू किया गया। ८६४० वर्षों का विवरण यह है कि राजा ककुत्स्थ से राजा सगर तक ३४४६ वर्ष बीते और राजा सगर से राजा युधिष्ठिर तक २६६५ वर्ष जबकि राजा युधिष्ठिर और राजा देवळ में २५२६ वर्षों का अन्तर है।

चंपा के एक लेख (सं. ७२०) में लिखा है—"पंचसहस्रनवशतैकादशे विगत कलङ्क द्वापर वर्षे श्री विचित्र सगर संस्थापित श्री मुखलिङ्ग देव:।"—कि राजा सगर ने शक संवत् ७२० से ५६११ वर्ष पूर्व श्री मुखलिङ्ग देव की स्थापना की थी। ये वर्ष ५६११-७२० = ५१६१ वर्ष, २५२६+ २६६५ वर्ष ही हैं। राजा युधिष्ठिर और शक राजा में २५२६ वर्षों का अन्तर वृद्धगर्ग के हवाले से वराहमिहिर ने अपनी वृहत्संहिता (१३. ३.) में भी दिया है—

आसन् मघासु मुनयः शासति
पृथ्वीं युधिष्ठिर नृपतौ।
षट् द्विक पंच द्वि युतः शक
कालः तस्य राज्ञश्च॥

३. दी इंन्साइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका, नौवां संस्करण, भाग २१ (पृष्ठ-८५४) में भी एक संवत्सर का वित्ररण है जो स्याम देश में प्रचलित था और "पुत्त सकरात संवत्सर" कहा जाता था। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संवत्सर भी ५४३ बी. सी. से शुरू बताया गया है।

४. एक सूचना यह है कि मध्य एशिया में खोतान के बौद्धराजा विजितधर्म (मनीन्द्र या मिनाण्डर) के पुत्र विजितसिंह का कनिष्ठ पुत्र देव था जिसने लगभग छठी सदी ईसा पूर्व उत्तरी भारत विजित किया और अपना देव पुत्रशक संवत्सर प्रचलित किया।[३]

५. यति वृषभाचार्य की तिलोय पण्णत्ती के चौथे महाधिकार की गाथा (क्रमांक १४९६ और १४९९) में वीरजिन के सिद्धि पाने से ४६१ वर्ष बाद और वीर जिन के निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ माह बाद शकराजा का होना बताया गया है। गाथा क्रमांक १४९७ और गाथा—१४९८ में वीर भगवान् के सिद्ध होने तथा वीरेश्वर भगवान् के सिद्ध होने से क्रमशः ९७८५ वर्ष ५ माह और १४७९३ वर्ष बाद शक नृप होना भी लिखा है।

तिलोय पण्णत्ती के ये उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण (८०.५.१०) में दिये वज्र मार्कण्डेय संवाद में उल्लिखित संख्या से मेल खाते हैं। वहां लिखा है—

अद्य प्रभृति राजेन्द्र ! समाः पंचाशके गते।
परिक्षिति महाराजे दिवं प्राप्ते कुरूद्वहे।
वाताश्व मेघवर्षेऽस्मिन् सपक्षेण यादव !

अर्थात् ५० वर्ष बाद जब महाराज परिक्षित दिवंगत होंगे तो तुम भी (यादव राजा वज्र) स्वर्ग को प्राप्त होंगे। यहां मार्कण्डेय ऋषि "आज" और "इस वर्ष" का प्रयोग करते हैं और उसे १४७४९ वां वर्ष कहते हैं।[४]

इस प्रकार शक राजा का काल जो बी. सी. ५४३ अथवा विक्रम पूर्व ५४३ वर्ष बताया गया है, वह संशोधनीय है। इसी प्रकार वर्ष १४७४९ अथवा १४७९३ वर्षों का संवत्सर और ८६४० वर्ष अथवा ९७८५ वर्ष का संवत्सर भी खोजने योग्य है। आशा है, अधिकारी विद्वान् इस शोध कार्य में समभागी बनेंगे और भारतीय काल गणना का यह अस्पष्ट अध्याय स्पष्ट हो सकेगा।[५]

सन्दर्भः—

१. बृटिश म्यूजियम लाइब्रेरी, लंदन में सुरक्षित सुमतितंत्र की ताड़-पत्रीय प्रति में लिपिकाल नेपाली संवत् ४७६ (एडी १३५६) लिखा है। देखने में भी वह नेपाल स्टेट लाइब्रेरी की प्रति से कम प्राचीन दीख पड़ती है। "कैटेलौग ऑफ दी संस्कृत मेन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी बृटिश म्यूजियम" में पृष्ठ १९३-९४ पर सुमतितंत्र का ब्योरा छपा है।

२. फोटो ब्लॉक में "क्रमेणतु" के पश्चात् अनुपूर्ति का निशान I लगा है किन्तु अनुपूर्ति की पंक्तियां नहीं हैं। ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी की प्रति में "क्रमेणतु" के पश्चात् का पाठ दिया है—"सेषायुताश्च कृत अम्बरांग्नि ३०४ श्री मानदेवाब्द—प्रयुज्यमाना एतानि पिण्डकालिवर्षमाहुः॥"

(शेषांश पृष्ठ ४० पर)

काल : एक अनुचिन्तन

□ समणी कुसुमप्रज्ञा

हमारा व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व सौरमंडल से प्रभावित होकर चलता है। उसकी गतिविधि से हमारी हर क्रिया प्रभावित होती है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार हमारे भाग्य की निर्मिति में मुख्य हेतु सौरमंडल बनता है। सौरमंडल की गति के आधार पर काल का विभाजन होता है। सूर्य की उत्तरायण और दक्षिणायण गति के आधार पर ही पूरा ऋतुचक्र बनता है।

जैन दर्शनानुसार षड्द्रव्यों में काल के बारे में सभी जैनाचार्य एक मत नहीं हैं। इसे अस्तिकाय के अन्तर्गत परिगणित न करके औपचारिक द्रव्य माना है। श्वेताम्बर आचार्य काल के दो भेद मानते हैं, नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक काल सब वस्तुओं पर परिणमन करता है अतः परिवर्तन का ज्ञान काल के आधार पर ही होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने Space and time के आधार पर ही सब पदार्थों की व्याख्या की है। आइंस्टीन के अनुसार आकाश और काल पदार्थ के धर्म हैं। उनका मानना है कि काल आकाश सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ आकाश का भी प्रसार हो रहा है।

स्थानांग सूत्र में काल के चार प्रकार बताए हैं। १. प्रमाणकाल २. यथायुर्निवृत्तिकाल, ३. मरणकाल ४. अध्वाकाल। सूर्य, चंद्र आदि से सम्बन्धित काल अध्वाकाल कहलाता है। प्रस्तुत प्रसंग में यही काल विमर्शनीय है।

आचार्य उमास्वाति ने काल ज्ञान के पांच हेतु बतलाए हैं— १. वर्तना, २. परिणाम, ३. क्रिया, ४. परत्व, ५. अपरत्व। नैयायिकों के अनुसार परत्व आदि काल के लिंग हैं। वैशेषिक दर्शन ने पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत, चिर और क्षिप्र ये छह लिंग काल के माने हैं।

हमारी सारी प्रवृत्तियों का केन्द्रीय तत्त्व काल है। काल के आधार पर ही सारी दिनचर्या निश्चित होती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने आगमों में स्थान-स्थान पर काल का महत्त्व प्रतिपादित किया है। निम्न सन्दर्भ इस बात की पुष्टि भी करते हैं :—

१. कालं संपडिलेहए
२. कालेण निक्खमे भिक्खू
३. अकालं च विवज्जेत्ता
४. सक्काले चरे भिक्खू

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. अकाले चरसि भिक्खू, कालं नो पडिलेहसि
अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले ।

प्रस्तुत प्रसंग में आगमों में प्रयुक्त कालपडिलेहणा (काल प्रतिलेखना) शब्द विमर्शनीय है। काल प्रतिलेखना का अर्थ है—काल की पहचान। जो व्यक्ति कालज्ञ होता है वह सफलता के शिखर पर स्वतः आरोहण करने लगता है। महावीर कहते हैं कि "खणं जाणाहि पंडिए" क्षण को जानने वाला पंडित होता है। समय का अंकन ही जीवन का मूल्यांकन है। समय के प्रति जागरूक व्यक्ति एक क्षण भी प्रमाद नहीं कर सकता। पाश्चात्त्य विद्वान् फेंकलिन का कथन है—Do not squander time for that is the stuff life is made of" 'अर्थात् समय को बरबाद मत करो, क्योंकि इसी से जीवन बना है। बीता हुआ समय और कहे हुए शब्द किसी भी कीमत पर वापिस नहीं आ सकते। इसलिए समय के प्रति जागरूकता ही व्यक्ति को महानता की सीढ़ियों पर चढ़ा सकती है। शेक्सपीयर अधिकांशतः अपने अतीत जीवन की आत्मालोचना करते हुए कहा करते थे—"I wasted time and now Doth time waste me" तात्पर्य यह है कि मैंने समय को नष्ट किया और अब समय मुझे नष्ट कर रहा है।

उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन में गौतम भगवान् महावीर से पूछते हैं कि भंते ! काल प्रतिलेखना से जीव क्या प्राप्त करता है ? महावीर कहते हैं कि काल प्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करता है। टीकाकार शांत्याचार्य कालप्रतिलेखना को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ज्ञान, ध्यान तथा सेवा आदि कार्य उपयुक्त समय पर करना ही काल प्रतिलेखना है।

वैदिक परम्परा में कालविज्ञान का मूल यज्ञ है किंतु जैन परम्परा में इसका मूल साधुओं की दिनचर्या है। उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन में श्रमण की दिनचर्या को विभिन्न कालों में विभक्त कर दिया गया है, जिससे वह व्यवस्थित रूप से समय की प्रतिलेखना कर सके। सूर्योदय से सूर्यास्त तक तथा सूर्यास्त से सूर्योदय तक की व्यवस्थित मुनिचर्या इस अध्ययन में हमें प्राप्त होती है। इस अध्ययन में वस्त्र, पात्र एवं उपकरणों की प्रतिलेखना के काल का भी समुचित निर्देश मिलता है। ओघनिर्युक्ति में भी इस विषय में विस्तार से वर्णन मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन में दिन के चार प्रहरों में करणीय कार्यों की सूची इस प्रकार निर्दिष्ट है—मुनि प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षा तथा चौथे प्रहर में ध्यान करे।

समय का यह निर्धारण आगमकालीन है। परवर्ती काल में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार इसमें परिवर्तन भी होता रहा है। बृहत्कल्प सूत्र में प्रथम एवं चरम प्रहर की भिक्षा का समर्थन मिलता है। ओघ निर्युक्ति भाष्य में भी आयवादिक विधि के अनुसार दिन में दो-तीन बार भिक्षा का विधान मिलता है। काल के अनुसार भी भिक्षाचर्या के समय में अंतर आता है। शिशिरऋतु में बारह या एक बजे भिक्षा मिलती है जबकि ग्रीष्मऋतु में दस बजे ही भिक्षा का समय हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान के अतिचारों में भी प्रथम आचार काल से संबंधित है। अस्वाध्याय में स्वाध्याय तथा स्वाध्याय में अस्वाध्याय ज्ञान को बहुत बड़ा अशातना है। इसका विस्तृत वर्णन आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है।

काल प्रतिलेखना का एक अर्थ उत्तराध्ययन टीका में किया गया है—समय का ज्ञान। उस समय कालप्रतिलेखना, नक्षत्रों की गति से रात्रि का कालज्ञान तथा सूर्य की छाया या आतप से दिन के समय का ज्ञान किया जाता था। प्रस्तुत अध्ययन के १९-२०वें श्लोक में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है।

कालज्ञान के लिए धूलघड़ी एवं जलघड़ी का बाद में विकास किया गया। वर्तमान में दीवारघड़ी, जेबघड़ी, कंठघड़ी, पेनघड़ी आदि का विकास हुआ है। पाश्चात्य देशों में डिस्पोजल सोसायटी के विकास के साथ और भी अनेक प्रकार की घड़ियों का विकास हो रहा है। आगमों में वर्णन मिलता है कि श्वासोच्छ्वास की संख्या के आधार पर भी मुनि काल का ज्ञान कर लेते थे।

वर्तमान में विज्ञान ने जैविक घड़ी के बारे में बहुत खोज की है। उनके अनुसार हर व्यक्ति के भीतर एक अपनी घड़ी है जिसके माध्यम से वह अपनी दिनचर्या संपादित करता है।

काल की प्रतिलेखना के संदर्भ में हम इस बात को भी समझ सकते हैं कि काल के अनुसार हमारा मूड भी बदलता है। सबेरे व्यक्ति इतना क्रोधित नहीं हो सकता जितना दोपहर को। अतः मंत्रणा या सलाह का समय प्रातःकाल या सायंकाल रखा गया है। इस प्रकार हम व्यापक रूप से इस विषय के बारे में सोचें तो कहा जा सकता है कि समय की पहचान हमारे जीवन की सफलता का राज है।

□□□

(शेषांश पृष्ठ ३७ का)

३. लेखक की अप्रकाशित कृति—"प्राचीन भारतीय इतिहास कालक्रम" में एतद्विषयक विस्तृत चर्चा की गई है।

४. महावीर निर्वाण बाद ४७० वें वर्ष में विक्रमादित्य का होना और शकराजा तक ६०५ वर्ष ५ माह बीतने का उल्लेख क्रमशः "तपागच्छ पट्टावली" और "तित्थोगाली पइन्नय" आदि ग्रंथों में भी पाया जाता है।

५. जैन विश्व भारती के ग्रंथागार में भी नेपाल से प्राप्त "निमित्तशास्त्र" नामक एक ज्योतिष ग्रंथ (क्रमांक ४५४ अ) की हस्तलिपि है जिसमें संख्याप्रकरण (पत्रक ६०) दिया है किन्तु प्रतिलिपि अपूर्ण है और अस्पष्ट पाठ को छोड़ दिया गया है। अतः संवत्सर संबंधी उल्लेख अस्पष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालिदास के नाटकों में लोक-विश्वास

☐ गोपाल शर्मा*

संस्कृत साहित्य के प्रणेताओं ने तत्कालीन राजनैतिक वातावरण के प्रभाव से नृपतियों के भोग-विलास तथा उनके ऐश्वर्य का वर्णन अवश्य किया, किन्तु साथ ही उस काल के जन-जीवन की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का यथार्थ चित्रण भी प्रस्तुत किया है। लौकिक संस्कृत साहित्य के शीर्षस्थ स्रष्टा कविकुलगुरु कालिदास के नाटकों में राजप्रासादों में निवसने वाले राजाओं, रानियों और उनकी विलासिता के वर्णन के साथ ही लोकप्रतिनिधि दास-दासी, धीवर और गांवों में रहने वाले कोल-किरातों, कृषकों तथा निकृष्ट कोटि का जीवन जीने वालों के विश्वास-आस्थाओं एवं मान्यताओं के अकृत्रिम सौन्दर्य की पुनीत छवि झलकती है।

उच्च एवं धन-सम्पन्न कुलों में भी लोक-विश्वास पाये जाते हैं। राजा-महाराजाओं एवं अन्य उच्चवर्गीय कुलों में लोक-प्रतिनिधि दास-दासी, चेटी, विदूषक एवं कंचुकी के माध्यम से लोक में प्रचलित विश्वास पहुंच जाते हैं। संभवतः कालिदास के समय में भी समाज में परियों (अप्सराओं) की लोक-कथाएं प्रचलित रही होंगी। अतः कवि ने "विक्रमोर्वशीयम्" में ऋग्वेद की उर्वशी-पुरुरवा[1] की कथा को नाटक के रूप में विकसित किया, जो संभवतः उस समय लोक प्रचलित कथा भी रही हो। श्री काले महोदय "मालविकाग्निमित्र" की कथा वस्तु को लोक प्रचलित कहानी मानते हैं, जो कालिदास के समय में अग्निमित्र के अन्तःपुर में किसी राजकुमारी के प्रच्छन्न निवास की रोमानी कहानी के रूप में लोक प्रचलित रही होगी।[2]

मानव-जीवन के निर्माण में लोक-मान्यताओं एवं लोक-विश्वासों का सदा से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आंगिक—मानसिक विकार, प्राकृतिक-परिवर्तन एवं वस्तु व्यापार को जन-सामान्य भावी शुभ-अशुभ के संकेत के रूप में ग्रहण करता था, जिसे लोक-जीवन में शकुन कहा गया है। नारी के बाएं एवं पुरुष के दाएं अंग में स्फुरण शुभ तथा नारी के दाएं एवं पुरुष के बाएं अंग में स्फुरण अशुभ माना जाता है। मालविकाग्निमित्र के पंचम अंक में मालविका की बाईं आंख का स्फुरण[3] एवं विदर्भदेश की कन्याओं-मदनिका एवं ज्योत्स्निका के जी का खिलना[4] भावी शुभ घटना के सूचक हैं, और मालविका अग्निमित्र की रानी बनती है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम अंक में जब राजा दुष्यन्त कण्व के तपोवन में प्रवेश करने लगे तब उनकी दक्षिण बाहु में

*वरिष्ठ शोध अध्येता, संस्कृत विभाग, सुखाड़िया वि०वि०, उदयपुर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्फुरण हुआ तो वे सोचने लगे—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥[५]

अर्थात् इस शान्त तपोवन की भूमि में मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़क रही है ? यहां भला क्या मिलने वाला है ? पर हां, जो होनी होती है (वह तो कहीं भी होकर रहती है) उसके द्वार सर्वत्र होते हैं। यहां पर दुष्यन्त को बाहु-स्फुरण शकुन में विश्वास है, पर शान्त वन में फल-प्राप्ति में आशंका है। अतः वह भवितव्य के प्रति विश्वस्त हो गया है। सप्तम अंक में मारीच के तपोवन में प्रविष्ट होते समय दुष्यन्त की दाईं बाहु में पुनः स्फुरण होता है। दुष्यन्त कह उठता है—"अपने मनोरथ पूरे होने की तो मुझे कोई आशा नहीं है, फिर भी तुम व्यर्थ ही क्यों फड़क रही हो, मेरी भुजा ! सच है, जो आई हुई लक्ष्मी को ठुकरा देता है, उसे पीछे ऐसे ही रोना-झींकना पड़ता है।"[६] यहां पर बाहु-स्पन्दन मनोरथ पूर्ति की सूचना दे रहा है, पर ठुकराई हुई लक्ष्मी को पुनः पाने की उसे आशा ही नहीं रही।

पंचम अंक में दुष्यन्त के सामने उपस्थित होने पर शकुन्तला के दक्षिण नेत्र में स्फुरण होता है[७], जो शकुन्तला के भावी अनिष्ट की सूचना है। शाप के वशीभूत दुष्यन्त उसे पहचानने से मना कर, स्वीकार नहीं करता है, अतः शकुन्तला को अनेकों कष्ट सहने पड़ते हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्य के जीवन में आने वाले दिन-रात, पूर्व-नियत हैं, जिसके भाग्य में जो लिखा होता है, वह होकर रहता है।[८] भाग्य जिसे दैव, भवितव्य, विधि कहा गया है, में तत्कालीन नागरिकों की अटल आस्था थी। दुर्दैव के शमनार्थ मनुष्य तीर्थादि भी जाते थे। कण्व अतिथि-सत्कार का काम शकुन्तला को सौंपकर उसके खोटे ग्रहों की शांति के लिए सोमतीर्थ गये।[९] सप्तम अंक में भरत जब शकुन्तला से दुष्यन्त के विषय में पूछते हैं कि—"ये कौन हैं ? तब शकुन्तला कहती है—"वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ !"[१०] लोगों का पुण्य करने में विश्वास था कि पुण्य कार्य का पुण्य फल मिलता है।[११]

शकुन्तला व दुष्यन्त के प्रणय-जीवन में उतार-चढ़ाव वस्तुतः उनके पूर्व-कर्मों का फल है। प्रिय की स्मृति में डूबी शकुन्तला द्वार पर आये ऋषि दुर्वासा के आगमन सूचक शब्द नहीं सुन पाती, अतः ऋषि क्रुद्ध होकर उसे शाप देते हैं। यह शकुन्तला के ही कर्म का फल है कि उसे दुष्यन्त पहचानने से मना कर देते हैं। भाग्य में विपदा होने से शकुन्तला की अंगूठी भी शक्रावतार में गिर जाती है, सप्तम अंक में मारीच के तपोवन में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त उसके पांवों में गिरकर क्षमा मांगते हैं, इस पर शकुन्तला अपने दुःख का कारण अपने पूर्व कर्मों को ही बताती है—'उत्तिष्ठतु आर्यपुत्रः !·····नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु·····परिणाममुखमासीद् येन सानुक्रोशाऽप्यार्यपुत्रो मायि विरसः संवृतः"[१२]। कर्मविपाक उस समय लोक प्रचलित धारणा थी।[१३] मालविका के पूर्व-जन्म के कर्मों का फल, या उसके भाग्य का खेल है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके कारण वह राजकुमारी से दासी बनी एवं दासी से पुनः राजकुमारी ।[14]

भारतीय साहित्य में शाप की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा रही है। शाप देने वाला कोई विशेष व्यक्ति होता है, और कारण विशेष से ही शाप देता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रियतम दुष्यन्त की मधुर स्मृतियों में खोई शकुन्तला दुर्वासा के आगमन सूचक शब्द नहीं सुन पाई अतः क्रुध अतिथि का शाप गूंज उठा—"अरी ओ अतिथि का अपमान करने वाली! जिसके ध्यान में इतनी मग्न होकर तू मुझ जैसे तपस्वी के आने की भी सुध नहीं ले रही है, वह बहुत स्मरण दिलाने पर तुझे उसी प्रकार भूल जायेगा, जैसे पागल मनुष्य अपनी पिछली बातें भूल जाता है।"[15]

संभवतः कालिदास स्वयं भी लोक विश्वासों से न्यूनाधिक रूपेण प्रभावित रहे होंगे और इन विश्वासों का सफल-साभिप्राय प्रयोग उन्होंने अपनी कृतियों में यथावसर किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुर्वासा-शाप की वर्णना के प्रसंग में "पुष्पभाजन" का स्खलित होना कुछ इस अपरिहार्यता से किया है जो शकुन्तला के भावी जीवन में आगामी विडम्बनाओं का प्रतीकात्मक आभास कराता है। उस पुष्प मात्र के माध्यम से, जिसकी संयोजना सखियों के माध्यम से शकुन्तला के सौभाग्यदेव की अर्चना हेतु की गई है, परन्तु जो अपने प्रयोजन में प्रवृत्त होने से पूर्व ही ठोकर लगने से हाथ से छूट जाता है।

कालिदास-कालीन समाज में सिद्ध-पुरुषों की भविष्यवाणियों में जन-सामान्य का विश्वास था। ऐसा विश्वास आज भी लोगों में पाया जाता है। मालविका के पिता के जीवन-काल में देव-यात्रा के प्रसंग में आये किसी सिद्धादेश साधु ने यह भविष्यवाणी की थी कि मालविका एक वर्ष तक दासीत्व का अनुभव कर अपने सदृश पति को प्राप्त करेगी।[16]

आकाशवाणी में भी लोगों का विश्वास था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में ऋषि कण्व को आकाशवाणी से ही शकुन्तला के दुष्यन्त से विवाह की सूचना प्राप्त होती है।[17] जन-सामान्य की धर्म में आस्था थी। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किये जाते एवं प्रसाद[18] चढ़ाया जाता था। व्रत-उपवास रखे जाते एवं उनका पारणा[19] किया जाता था।

समाज में भूतप्रेत[20], पिशाच[21] आदि में लोग बहुत विश्वास करते थे। इन प्रेतात्मा जीवों का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रतिहारी राजा से कहता है कि अदृष्ट रूपवाले किसी प्राणी ने माणवक को मेघ प्रतिच्छन्द नामक प्रासाद के अग्रभाग में रख दिया है। तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, शाप और देवी-विद्याओं जैसे अलौकिक तत्त्वों में भी जन-सामान्य का विश्वास था। मंत्रों में दैवीशक्ति मानी जाती थी। मंत्र-बल से व्यक्तियों के स्वेच्छानुसार अदृश्य और दृश्य हो जाने और सब कुछ जान लेने के उल्लेख भी मिलते हैं।[22] सांसारिक आधि-व्याधि के निराकरण के लिए, रक्षा-सूत्र एवं रक्षा करण्डक पहनने की प्रथा थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भरत के हाथ में अपराजिता नामक जड़ी-बूटी का ताबीज बांधा गया था।[23]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दैवी-विद्याएं भी लोगों को सिद्ध होती थीं। तिरस्कारिणी विद्या की सिद्धि से अदृश्य रहने की शक्ति प्राप्त होती थी[२४] और अपराजिता विद्या के बल से अजेयता की उपलब्धि प्राप्त हो सकती थी।[२५]

कालिदास के समय में वृक्ष-दोहद से सम्बन्धित लोक-विश्वास व्यापक था। मालविकाग्निमित्र में अशोक-दोहद मुख्य घटना है। मालविका के पादाघात से अशोक में पांच रात्रियों से भी कम समय में ही कलियां फूट आती हैं।[२६] अशोक-दोहद की घटना को हेनरी डब्ल्यू बेल्स ने लोक-वार्ता का तत्त्व स्वीकार किया तथा वाल्टर रूबेन ने इसे वृक्षपूजा की पुरातन परम्परा से जोड़ा है।[२७]

कोई भी कार्य आरम्भ करने से पूर्व लोग ज्योतिषी से शुभ मुहूर्त पूछते थे।[२८] दैविक-जीवन में पाठ-पूजा करते थे, प्रासाद में लड्डू आदि बांटे जाते थे।[२९]

राज-प्रासाद की चाहर-दीवारी में रहने वाले भी लोक-जीवन के प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते हैं। लोक-प्रचलित विश्वास वहां भी येनकेन प्रकारेण पहुंच जाते हैं। लोक-विश्वासों में उस समय शाप, शकुन, ज्योतिष, पाठ-पूजा, भाग्य, कर्म-विपाक, पुण्य, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना, अलौकिक तत्त्व, स्वप्न, भूत-प्रेत, भविष्यवाणी, पूर्वजन्म आदि प्रचलित थे। इन विश्वासों के आधार पर उस समय के लोक-जीवन की छवि नाटककार ने पेश की है। प्रायः ये सारे विश्वास आज भी हमारे बीच प्रचलित हैं। ये विश्वास समाज की ऐसी प्रेरक शक्ति है, जिससे मनुष्य आशावादी होकर कर्म प्रवृत्त होता है।

संदर्भ :

१. ऋग्वेद— १।८।६५, ५।३।४१, ७।३३।११, १।३१।४

२. संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व, पृ० १५८

३. मालविका—'अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति'—कालिदास ग्रंथावली, मालविकाग्निमित्रम्, पंचम अंक, पृ० ३४३

४. प्रथमा—सखि मदनिके! अपूर्वमिदं राजकुलं प्रविशन्त्याः प्रसीदति मे हृदयम्, वही, पृ० ३४५

५. का० ग्रं०, अभि०शा०—५।१६, पृ० ११

६. मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःख हि परिवर्तते॥
वही, ७।१३, पृ० ९३३

७. शकुन्तला—(निमित्तं सूचयित्वा) अहो किं मे वामेतर नयनं विस्फुरति।
का० ग्रं०, अभि० शा०, पंचम अंक, पृ० ८४

८. "भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र", का०ग्रं०, अभि०शा०, प्रथम अंक, पृ० ११, भवितव्यता खलु बलवती, का० ग्रं०, अभि० शा०, ष० अं०, पृ० १०६

९. वैशानख—इदानीमेव दुहितर शकुन्तलामतिथि सत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। का० ग्रं०, अभि० शा०, प्रथम अंक, पृ० ९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. का० ग्रं०, अभि० शा०, अंक ७, पृ० १४१
११. तावत्फलमेव पुण्यम का०ग्रं०, अभि० शा०, ६।१०, पृ० १११
१२. का० ग्रं०, अभि०शा०, अंक ७, पृ० १४२
१३. संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व, पृ० २४३
१४. का०ग्रं०, मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक, पृ० ३५१
१५. विचिन्तयंती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।
स्मृरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथा प्रमत: प्रथमं कृतामिव ।।
का०ग्रं०, अभि० शा०, ४।१, पृ० ५६
१६. इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रागतेन सिद्धादेशकेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृश भर्तृगामिनी भविष्यति।
का०ग्रं०, मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक, पृ० ३५१
१७. का०ग्रं०, अभि० शा०, चतुर्थो अंक, पृ० ६३
१८ इयं देवप्रसादस्यापदेशेन, सुमनोगोपितं कृत्वा तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि। का०ग्रं०, अभि०शा०, तृतीय अंक, पृ० ४८
१९. "देव्याज्ञापयति—आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति।"
का०ग्रं०, अभि०शा०, द्वितीय अंक, पृ० ३९
२०. "अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमाशोपितः।"
का०ग्रं०, अभि०शा०, षष्ठ अंक, पृ० १२४
२१. विदूषक—भवति ननु पश्च आश्वासितः पिशाचोऽपि, भाजनेन।"
का०ग्रं०, विक्रम०, द्वितीय अंक, पृ० १८९
२२. संस्कृत नाटकों में समाज-चित्रण, पृ० २१८
२३. एषा पराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवतामारीचेन दत्ता।"
का०ग्रं०, अभि०शा०, सप्तमो अंक, पृ० १३७
२४. चित्रलेखा—(तिरस्कारिणीयमपनीय राजानमुपेत्य), का० ग्रं०, विक्र० अंक २, पृ० १८३
२५. ननु भगवतादेवगुरुणा अपराजिता नाम शिखा-बन्धन विद्यामुमदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः। वही, विक्र० अंक २, पृ० १७६
२६. "आश्चर्यमाश्चर्यम (अपूर्ण एव पंचरात्रे दोहदस्य मुकुलैः संनद्धस्तपनीयाशोकः यावद्दृव्यै निवेदयामि)।" वही, माल० चतुर्थ अंक, पृ० ३३६
२७. संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व, पृ० १६२
२८. विदूषक—"भणितं मया। दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा—सोपसर्ग वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति।।"
वही, माल० चतुर्थ अंक, पृ० ३२३
२९. सर्वकालमित एवं स्वस्तिवाचनमोदकै: कुक्षि पुरयित्वा साम्प्रतं मालविका स्वप्नायते। वही, पृ० ३३२

□□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान की भेदरेखा

□ समणी मंगलप्रज्ञा

प्राचीन कर्मशास्त्र में ज्ञानावरण कर्म की प्रकृतियों के उल्लेख के समय मतिज्ञानावरण एवं श्रुतज्ञानावरण—इन दो प्रकृतियों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। अतः इस कथन से स्पष्ट है कि इनके ज्ञान भी अलग-अलग हैं। प्राचीन परम्परा से ही मतिज्ञान एवं श्रुतिज्ञान को पृथक् स्वीकार किया गया है और आज भी उनका वही रूप स्वीकृत है, परन्तु इन दोनों का स्वरूप परस्पर इतना संमिश्रित है कि इनकी भेदरेखा करना कठिन हो जाता है। जैन-परम्परा में इनकी भेदरेखा स्थापित करने के लिए तीन प्रयत्न हुए— १. आगमिक २. आगम मूलक तार्किक ३. शुद्ध तार्किक।

आगमिक प्रयत्न

आगम परम्परा में इन्द्रिय मनोजन्य ज्ञान अवग्रह आदि भेदवाला मतिज्ञान था तथा अंग-प्रविष्ट एवं अंग-बाह्य के रूप में प्रसिद्ध लोकोत्तर जैन-शास्त्र श्रुतज्ञान कहलाते थे। अनुयोगद्वार तथा तत्त्वार्थसूत्र में पाया जाने वाला श्रुतज्ञान का वर्णन इसी प्रथम प्रयत्न का फल है। आगमिक परम्परा में अंगोपांग के ज्ञान को ही श्रुतज्ञान कहा है, अंगोपांग के अतिरिक्त सारा मतिज्ञान है। अंगोपांग से भिन्न वेद, व्याकरण, साहित्य, शब्द संस्पर्शी ज्ञान, शब्द संस्पर्श रहित ज्ञान सारा ही मतिज्ञान है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि किसी व्यक्ति में एक, दो, तीन और चार ज्ञान एक समय में हो सकते हैं। उमास्वाति के बाद की परम्परा ने ऐसा स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार किसी भी प्राणी में कम से कम दो ज्ञान तो होंगे ही। तत्त्वार्थ के एक ज्ञान के उल्लेख का तात्पर्य है—श्रुतज्ञान अंगोपांग रूप है, वह सब में हो यह जरुरी नहीं है। अतः अंगोपांग रहित सारा ज्ञान ही आगम परंपरा में मतिज्ञान था और इस अपेक्षा से व्यक्ति में एक ज्ञान माना जा सकता है। असोच्चा केवली का उल्लेख भी शायद इस एक ज्ञान की ही फलश्रुति है। जिसने अंगोपांग का श्रवण अध्ययन नहीं किया हो, वह मतिज्ञानी है, वह जब केवली हो जाता है तब उसे "असोच्चा केवली" कह दिया जाता हो, ऐसी संभावना की जा सकती है।

आगम मूलक तार्किक

इस दूसरे प्रयत्न ने मति, श्रुत के भेद को तो स्वीकार कर लिया किन्तु उनकी भेदरेखा स्थिर करने का व्यापक प्रयत्न किया गया। प्रथम परंपरा जो आगम को ही श्रुतज्ञान मानती थी इसके अतिरिक्त दूसरी परंपरा ने आगम के अतिरिक्त को भी श्रुतज्ञान के रूप में स्वीकार किया। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"इन्दियमणोनिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
नियत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं ॥ विशेषा. भा. गा. ९९

इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला श्रुतानुसारी ज्ञान जो, स्वयं में प्रतिभासित घट, पट आदि पदार्थों को दूसरों को समझाने में समर्थ होता है, वह श्रुतज्ञान है। ज्ञान बिन्दु में मति-श्रुत को परिभाषित करते हुये कहा गया—"मतिज्ञानत्वं श्रुताननुसार्यनतिशयितज्ञानत्वम् अवग्रहादिक्रनवदुपयोगजन्यज्ञानत्वं वा, श्रुतं तु श्रुतानुसार्येव।"

जो श्रुतानुसारी होता है वह श्रुतज्ञान है तथा जो श्रुताननुसारी अर्थात् श्रुतानुसारी नहीं होता वह मतिज्ञान है।

जब श्रुतानुसारी को श्रुतज्ञान कहा गया तो शंका करते हुए पूछा गया कि शब्दोल्लेखी श्रुतज्ञान है तो मतिज्ञान का भेद अवग्रह ही मतिज्ञान होगा। शेष ईहा आदि श्रुतज्ञान होंगे क्योंकि वे भी शब्दोल्लेख युक्त हैं। इस प्रकार मति ज्ञान का लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित होगा तथा श्रुतज्ञान का लक्षण मतिज्ञान के भेदों में चले जाने से अतिव्याप्त लक्षणाभास से दूषित है। समाधान की भाषा में आचार्यों ने कहा कि ईहा आदि साभिलाप है किन्तु सशब्द हो जाने मात्र से वह श्रुतज्ञान नहीं है। जो श्रुतानुसारी साभिलाप ज्ञान है वही श्रुतज्ञान है। धारणात्मक ज्ञान के द्वारा वाच्य-वाचक संबन्ध संयोजन से जो ज्ञान होता है वह श्रुतानुसारी है।[1] अतः मतिज्ञान साभिलाप होने पर भी श्रुतानुसारी न होने से श्रुतज्ञान नहीं है। अतः मति का लक्षण अव्याप्त दोष से तथा श्रुत का लक्षण अतिव्याप्त दोष से दूषित नहीं है। साभिलाप अवग्रह आदि श्रुतनिश्रित मतिज्ञान है। वे श्रुतानुसारी नहीं है तथा मतिज्ञान साभिलाप एवं अनभिलाप उभय प्रकार का है, किन्तु श्रुतज्ञान तो साभिलाप ही होता है।[2] श्रुत-निश्रित, अश्रुतनिश्रित तक मतिज्ञान है, जहां श्रुतानुसारित्व शुरू होता है वहां श्रुतज्ञान होता है।

उमास्वाति ने कहा—जहां श्रुतज्ञान है वहां मतिज्ञान नियमतः है, किन्तु जहां मति हो वहां श्रुत हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, वहां वह वैकल्पिक है। परंतु नन्दीकार के अनुसार जहां मतिज्ञान है वहां श्रुतज्ञान निश्चित है। मति, श्रुत का अविनाभाव संबंध है—ऐसा नन्दी सूत्रकार, पूज्यपाद देवनन्दी तथा अकलंक मानते हैं। प्रश्न यह है कि यह अविनाभाव मत्युपयोग एवं श्रुतोपयोग का है अथवा उनकी लब्धि का है। इस प्रश्न का समाधान स्पष्ट रूप से ऊपरी संदर्भों में उपलब्ध नहीं है परन्तु यह बहुत संभव है कि लब्धि का सहभाव है, उपयोग का नहीं है, क्योंकि जैन चिन्तकों का मानना है कि दो उपयोग युगपत नहीं हो सकते तथा उमास्वाति का यह कथन कि मति-श्रुत निश्चित रूप से अनुगमन करे यह जरूरी नहीं है। यह वक्तव्य उपयोग के आधार पर हो सकता है। मत्युपयोग होने पर श्रुतोपयोग हो यह जरूरी नहीं है। अतः उमास्वाति का कथन उपयोग को लेकर है न कि लब्धि के आधार पर[3]। अन्य आचार्यों का कथन लब्धि के आधार पर है, उपयोग के आधार पर नहीं है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान के स्वामी, काल, विषय समान हैं अतः उनमें परस्पर अभिन्नता है तथा अन्य दृष्टि से उनमें परस्पर भिन्नता भी है। मति तथा श्रुत का लक्षण भिन्न है अतः वे भिन्न हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है जबकि मतिज्ञान श्रुत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक नहीं होता। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने मति और श्रुत की भिन्नता के कारणों का निरूपण करते हुए कहा—

"लक्खणभेआहेऊ फलभावओ भेय इन्दिय विभागा।
वाग-क्खरमूए-यर भेआभेओ मइ सुयाणं ॥ वि. गा. ९७

१. लक्षण कृत भेद २. मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है। ३. मतिज्ञान के २८ भेद हैं, श्रुतज्ञान के १४ भेद हैं। ४. श्रुतज्ञान श्रोत्रेंद्रियों का विषय है जबकि मति श्रुत के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों का भी विषय है। ५. मति-मूककल्प है, श्रुत अमूककल्प है। ६. मतिज्ञान अनक्षर होता है, श्रुतज्ञान अक्षर होता है। ७. मतिज्ञान स्वप्रत्यायक ही होता है, श्रुतज्ञान स्व-पर अवबोधक होता है। जो सम्मुख आए हुए को जानता है वह अभिनिबोधिक ज्ञान है। जो सुनता है वह श्रुतज्ञान है।[४] वक्ता एवं श्रोता का जो श्रुतानुसारी ज्ञान है, वह श्रुतज्ञान है तथा उनका श्रुतातीत ज्ञान मतिज्ञान है।[५] श्रुतज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि रूप ही होता है किन्तु सारी श्रोत्रोपलब्धि श्रुतज्ञान नहीं होती है, वह मति भी होती है। मतिज्ञान वार्तमानिक है जबकि श्रुत त्रैकालिक है। इस प्रकार मति और श्रुत में परस्पर भेदाभेद है। मति एवं श्रुत की इस प्रकार की भेदरेखा का प्रयत्न आगम मूलक तार्किक विचारधारा का परिणाम है।

शुद्ध तार्किक दृष्टि

मति-श्रुत के बारे में तीसरी दृष्टि के जनक सिद्धसेन दिवाकर हैं। उन्होंने मति एवं श्रुत के भेद को ही अमान्य किया है। उनके अनुसार श्रुतज्ञान मतिज्ञान के ही अन्तर्गत है, जिस प्रकार स्मृति आदि मति के अन्तर्गत है। उनका कहना है कि श्रुतज्ञान को मतिज्ञान से पृथक् मानने पर कल्पना गौरव होता है। अर्थात् जब श्रुतज्ञान का जो कार्य बताया गया है वह मतिज्ञान के द्वारा ही संपादित हो जाता है। तब श्रुतज्ञान को मति से पृथक् स्वीकार करके कल्पना गौरव क्यों किया जाए ? मति और श्रुत में अभेद है। इनको पृथक् मानने से वैयर्थ्यता एवं अतिप्रसंग ये दो दोष उपस्थित होते हैं— वैयर्थ्यातिप्रसंगाभ्यां न मत्यभ्यधिकं श्रुतम्। यह सिद्धसेन दिवाकर की शुद्ध तार्किक परम्परा है। जिन्होंने दोनों के भेद को ही अमान्य कर दिया है।

उपर्युक्त सारी परम्पराओं का उल्लेख आचार्य यशोविजयजी ने ज्ञानबिन्दु नामक ग्रन्थ में सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

सन्दर्भ :

१. श्रुतानुसारित्वं धारणात्मक पदपदार्थसम्बन्ध प्रतिसंधानजन्य ज्ञानत्वम्।"—ज्ञान-बिन्दु, पृष्ठ-६

२. विशेषा. भा., गा. १०० की टीका

३. Studies in Jain Philosophy, P. 55

४. विशेषा. भा., गा. ९८

५. विशेषा. भा., गा. १२१

□□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणु के मूलभूत गुण

□ डॉ० अनिल कुमार जैन*

परमाणु पदार्थ (पुद्गल) की वह सबसे छोटी इकाई है जिसका कोई विभाजन न हो सके। जैनाचार्यों एवं दार्शनिकों ने परमाणु तथा पुद्गल का विशद् वर्णन किया है। पिछले कुछ वर्षों में इनका बहुत अध्ययन हुआ है तथा कइयों ने जैन धर्म में वर्णित परमाणु, आधुनिक युग में वर्णित परमाणु तथा अंतिम कणों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया है।[१-५]

जैन धर्मानुसार पदार्थ (पुद्गल) के चार स्वाभाविक मूलभूत गुण होते हैं। ये हैं—स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण। कोई भी पुद्गल इन चार गुणों से रहित नहीं हो सकता है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं—हल्का, भारी, कठोर, मुलायम, शीत, उष्ण, रूक्ष और स्निग्ध। रस पांच प्रकार के होते हैं—तीखा, कड़वा, कषैला, खट्ट तथा मीठा। गंध दो प्रकार की होती है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पांच प्रकार के हैं—काला, नीला, लाल, पीला तथा सफेद। इस प्रकार पुद्गल के कुल बीस मूलभूत गुण होते हैं।

यहां पुद्गल के स्पर्श गुण के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है। क्या एक ही पुद्गल पिण्ड दो परस्पर विरोधी गुणों को धारण कर सकता है? जैसे—यदि कोई पिण्ड हल्का है, वह भारी कैसे हो सकता है? इसी प्रकार कठोर पिंड मुलायम कैसे हो सकता है? शीत पिण्ड ऊष्ण तथा रूक्ष पिण्ड स्निग्ध कैसे हो सकता है? इन सब प्रश्नों का समाधान यह है कि वस्तुतः ये कथन अपेक्षाकृत हैं। यदि कोई पिण्ड हल्का है किसी अन्य पिण्ड की अपेक्षा ही से। अतः एक पिण्ड किसी दूसरे पिण्ड की तुलना में हल्का तथा किसी तीसरे पिण्ड की तुलना में भारी हो सकता है।

परमाणु के मात्र दो प्रकार के स्पर्श गुण होते हैं। उनमें एक समय में ठण्ठा या गरम तथा रूक्ष या स्निग्ध ये गुण ही हो सकते हैं। अन्य चार प्रकार के स्पर्श गुण परमाणु में नहीं होते हैं क्योंकि पुद्गल की न्यूनतम इकाई परमाणु में हल्का या भारी तथा कठोर या मुलायम का भेद देखने का कोई अर्थ ही नहीं हैं। ये गुण तो स्कन्ध में ही सम्भव हैं। परमाणु सबसे छोटी इकाई होने से एक साथ दो परस्पर विरोधी गुणों को भी ग्रहण नहीं कर सकता है, अर्थात् एक परमाणु में एक साथ ठण्डा और गरम या रूक्ष और स्निग्ध गुण भी नहीं हो सकता। इस प्रकार एक परमाणु में स्पर्श का गुण निम्न चार प्रकारों में से कोई एक हो सकता है—(१) गरम तथा रूक्ष, (२) गरम तथा स्निग्ध,

*आई०आर०एस०, ओ०एन०जी०सी०, साबरमती, अहमदाबाद-३८०००५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) ठण्डा तथा रूक्ष, (४) ठण्डा तथा स्निग्ध।

एक परमाणु में पांच रसों में से कोई एक रस, दो गंधों में से कोई एक गंध तथा पांच वर्णों में से कोई एक वर्ण हो सकता है। इस प्रकार परमाणु के कुल (४×५×२×५)=२०० भेद हो सकते हैं। या हम कह सकते हैं कि उपरोक्त के आधार पर परमाणु २०० प्रकार के होते हैं। परमाणु के इन गुणों की तीव्रताओं के आधार पर यदि इनका वर्गीकरण करें तब तो उनके अनन्त भेद हो जायेंगे। उदाहरण के लिए एक परमाणु में एक इकाई काला वर्ण है, दो इकाई काला वर्ण है, इत्यादि-इत्यादि। इसी प्रकार उसमें काले वर्ण की तीव्रता अनन्त इकाइयों तक हो सकती है। किसी एक परमाणु में काले रंग की तीव्रता में हानि-वृद्धि हो सकती है, लेकिन वर्ण काला ही रहेगा, कोई दूसरा नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य गुणों की तीव्रता में भी हानि-वृद्धि हो सकती है।

परमाणुओं के जिन १०० भेदों का ऊपर वर्णन किया है वह उनके गुणों के आधार पर है। एक परमाणु विभिन्न गुणों के एक सेट (Set) का धारक है, दूसरा परमाणु गुणों के दूसरे सेट का धारक है, इस प्रकार गुणों के २०० सेट हैं। यहां एक प्रश्न यह है कि क्या एक परमाणु से संबद्ध गुणों का एक सेट उस परमाणु का मूलभूत गुण है या फिर वह सेट बदल भी सकता है? जैसे—एक परमाणु में किसी समय ठण्डा गुण है, क्या अगले पल उसका यह गुण गरम हो सकता हैं? इस सम्बन्ध में कुछ व्याख्याएं विद्वानों ने दी हैं।[६] उनके अनुसार—'पुद्गल द्रव्य के एक अणु में जितनी शक्तियां हैं उतनी हैं और वैसी ही शक्तियां परिणमन-योग्यता अन्य पुद्गलाणुओं में है। मूलतः पुद्गल-अणु द्रव्यों में शक्ति भेद, योग्यता भेद या स्वभाव भेद नहीं है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलतः स्निग्ध स्पर्श वाले हों और दूसरे मूलतः रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण, पर उनके ये गुण नियत नहीं, रूक्ष गुण वाला भी स्निग्ध गुण वाला बन सकता है तथा स्निग्ध गुण वाला भी रूक्ष। शीत भी उष्ण बन सकता है, उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओं में ऐसा कोई जाति भेद नहीं है जिससे किसी भी पुद्गलाणु का पुद्गल संबन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गल द्रव्य के जितने भी परिणमन हो सकते हैं उन सबकी योग्यता व शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणु में स्वभावतः है, यही द्रव्य शक्ति कहलाती है। स्कन्ध अवस्था में पर्याय शक्तियां विभिन्न हो सकती हैं। जैसे किसी अग्नि स्कन्ध में सम्मिलित परमाणु का उष्ण स्पर्श और तेजो रूप था, पर यदि वह अग्नि स्कन्ध से जुदा हो जाय तो उसका शीत स्पर्श तथा कृष्ण रूप हो सकता है। और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओं का रूप और स्पर्श आदि बदल सकता है।'

उक्त कथन से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि परमाणु के चार मूलभूत गुण-स्पर्श रस, गंध तथा वर्ण तो निश्चित हैं, लेकिन यह तय नहीं है कि अमुक परमाणु में स्पर्श गुण ठण्डा या गरम में से कौन-सा गुण उसके साथ होगा, या फिर वर्ण गुण—काला, नीला, लाल, पीला या सफेद में से कौन सा वर्ण किस समय उस परमाणु से संबद्ध होगा। इस व्याख्या से तो किसी परमाणु विशेष का कोई मूलभूत गुण ही नहीं रहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह व्याख्या कुछ भ्रामक लगती है। आधुनिक विज्ञान के आधार पर भी यदि हम विचार करें तो यह व्याख्या गलत सिद्ध होती है। आधुनिक विज्ञान के आधार पर पदार्थ का सबसे छोटा मौलिक कण क्वार्क है। क्वार्क भी कई प्रकार के होते हैं। प्रत्येक क्वार्क का रंग तथा आवेश निश्चित होता है। यदि क्वार्क ही अन्तिम मौलिक कण है तो उसका रंग तथा आवेश निश्चित ही होगा। कुछ वर्षों पूर्व तक इलैक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोनों को मौलिक कण माना जाता था लेकिन चूंकि इनको एक दूसरे में बदला जा सकता है, अतः ये मौलिक कण नहीं हैं। इलैक्ट्रोन पर ऋणात्मक आवेश होता है तथा प्रोट्रोन पर धनात्मक आवेश। धनात्मक आवेशयुक्त प्रोट्रोन कण को ऋणात्मक आवेशयुक्त कण में बदला जा सकता है। तब प्रोट्रोन तो मौलिक कण रहा ही नहीं। इसी प्रकार अन्य कण भी हैं।

यहां मेरे कहने का तात्पर्य मात्र यह है कि २०० प्रकार के परमाणुओं में प्रत्येक परमाणु के मौलिक/मूलभूत गुणों का एक निश्चित सेट होता है। यदि कोई परमाणु काले वर्ण वाला है और यदि वह स्कन्ध में सम्मिलित होने के बाद पुनः अलग भी हो जाता है तो उसका वर्ण काला ही रहेगा। हां, यह हो सकता है कि उसके काले वर्ण की तीव्रता में कमी या वृद्धि हो जाय। परमाणु के मूलभूत/मौलिक गुण न मानने का अर्थ है कि परमाणु का अस्तित्व ही न मानना। दूसरी बात यह है कि जब एक परमाणु दूसरे परमाणु के सम्पर्क में आकर स्कन्ध रूप परिणत होता है तब उसके स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण गुण एक दूसरे से प्रवाहित हो सकते हैं। यदि एक परमाणु नीला है तथा दूसरा पीला है, तो हो सकता है कि इन दोनों से बनने वाला स्कन्ध नीला हो, हो सकता है कि पीला हो, और यहां तक कि इन दोनों रंगों से भिन्न कोई तीसरा रंग ही हो। लेकिन स्कन्ध टूटने पर जब ये परमाणु अलग-अलग होंगे तब इनका क्रमशः वर्ण नीला तथा पीला ही होगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो परमाणु की मौलिकता ही समाप्त हो जाएगी।

संदर्भ :

१. 'जैन पदार्थ-विज्ञान में पुद्गल', ले०—मोहनलाल बांठिया, (मई, १९६०)।
२. 'Theory of Atom in the Jain Philosophy' by J.S. Zaveri, (1975)
३. 'The ultimate Particle of Matter'—Dr. A. K. Jain, Tulasi-Prajna (June 1986), P. 70-76.
४. 'स्कन्ध के भेद : एक समीक्षात्मक अध्ययन'—डॉ० अनिल कुमार जैन, तुलसी प्रज्ञा (मार्च १९८७), पृ० ४०-४२।
५. 'Colour : An Innate Property of the Matter'—Dr. Anil Kumar Jain, Tulasi-Prajna (December 1988), P. 57-60,67.
६. 'जैन अध्यात्म'—पं० महेन्द्र कुमार जैन न्यायाचार्य, अनेकांत, (सितम्बर, १९४८) पृष्ठ-३३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

SCIENTIFIC CONCEPT OF SPACE AND TIME

☐ *Muni Mahendra Kumar*

Pre-Einsteinian Scientific Concept Centre

The theory of space and time propounded by Sir Isaac Newton (1642-1727) had been accepted unanimously in the scientific field before the advent of Einstein's theory of relativity. Newton had established his theory on the basis of the philosophical views of French philosopher Gassendi Newton, like Gassendi, accepted space as an absolute entity. Regarding space, he, as he tells us in his world-famous *Principia*, held : "Absolute space, in its own nature without regard to anything external, remains always similar and immovable."[1]

Further, Newton maintains : "All things are placed in space as regards order of situation."[2] That is to say, the earth and the heavenly bodies are situated in an immovable container, of boundless extent, which exists, and has always existed, independently of whether it is observed by perceiving minds or not, and independently of whether it is occupied at any particular place or not. It is the scene of all that happens in the physical universe ; at any instant, every material body is located somewhere in it, and has the possibility of changing from one location to another. Its size is infinite, its character uniform, its texture continuous, and its geometry Euclidean ; and the business of the physicist is to account for all phenomena in terms of the motions and mutual actions of particles situated in it.[3]

Similarly, Newton's concept of time was : "Absolute, true and mathematical time of itself, and from its own nature, flows equally without regard to anything external."[4]

From the above concepts of space and time, it becomes clear that Newton considered both space and time as independent objective realities, their existence being neither dependent upon the percipient nor the things sustained or related by them.

Optics and Mechanics

Newton adopted the laws of Euclidean geometry. He assumed the space to be flat, and on the basis of this assumption he asserted that the geometry of space was Euclidean. The laws of optics, such as

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the rays of light always travel in a straight line and never meet each other as they travel parallel to each other, were based on the Euclidean geometry of space. In the field of mechanics, the motion of bodies was considered to take place with respect to the absolute space. Newton used the empty space as a system of reference within which it was possible to distinguish absolute motion. For, when any body moves, its motion is ordinarily considered as relative to other bodies. But if there is no object which is absolutely at rest, the motion of all bodies become relative. For instance, a ship is moving in a sea ; then the motion of the ship is said to take place relative to water. But water itself is not at rest ; it also undergoes motion on account of the motion of the earth which moves relative to the sun. Thus it means that the ship as well as water move. Further, the sun too, together with its whole solar system, goes on moving in space and so on. Thus in absence of any body being absolutely at rest, the question as to what is the frame of reference, arises at once. To solve this puzzle, Newton first of all suggested[5] that it was possible that in the remote regions of the fixed stars or perhaps far beyond them, there might be some body absolutely at rest, and that making it a frame of reference, the absolute motion of the bodies might be distinguished. But at the same time he felt that it was not possible to obtain knowledge about that fixed frame of reference through observation. He, therefore, concluded that the absolute space, which is always at rest, should be used as a frame of reference.

He established his hypothesis of motionless absolute space on the basis of the laws of dynamics. Dynamics concerns with the relation of force with acceleration, motion, speed, etc. In relative motion, the value of acceleration also should be relative But Newton, on the basis of mathematical calculations, showed that acceleration of a moving body depended upon the force producing the motion, and hence, was not relative. In Newton's second law of motion, this fact was stated thus—

Force = Mass × Acceleration.

Newton used this equation to explain the centrifugal forces and the motion of the rotating system. His explanation was generally accepted by the scientists and hence, his theory of absolute space was also unanimously adopted as the foundation of classical physics. Thus Newton's concept of space had remained unshaken in the realm of physics till the announcement of theory of relativity by Dr. Einstein.

Newton's theory of absolute time was also accepted by the scientists unanimously. It was the characteristic of Newton's concept that according to it, time was regarded as an independent entity. Also, the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

absolute time and the absolute space were independent of each other. In Newton's mechanics, the motion of the bodies was not thought to effect the flow of time. Newton held that time flowed equally without regard to anything external from the infinite past into the infinite future.

Ether and Wave Theory of Light

After the adoption of Newton's theory of absolute space in the field of physics, the physicists of the 18th and 19th centuries tried to solve several difficulties that had arisen in the course of development of classical physics. One of them was the phenomenon of light. On the basis of experiments, the undulatory nature of light was confirmed, and consequently, the wave theory of light was accepted—light was thought to be propagated in the form of waves. But the question which perplexed the scientist's minds was; just as water propagates the waves of the sea and air transmits the vibrations we call sound, which is the medium for propagating the light-waves. Further, when the experiments had shown that light can travel in vacuum, the scientists conceived of a hypothetical medium, which they termed as "ether". They assumed that this substance ether must pervade all space and matter. They also endowed ether with certain mechanical properties such as elasticity and thus regarded it as a kind of physical substance. Later on Faraday propounded another kind of ether as the carrier of electric and magnetic forces. When Maxwell finally identified light as an electromagnetic radiation, the case for the ether, as a medium of propagation, seemed to be assured.[6] Thus, the final conclusion of the Newtonian physics was that the space of the universe was pervaded by an invisible medium (ether) through which the stars and planets made their motion and light travelled in the form of waves. This theory of the universe provided a mechanical model for all known phenomena of nature and it provided the fixed frame of reference, the absolute and immovable space, which Newton's cosmology required.[7]

Discovery of Theory of Relativity :
Michelson And Morley's Experiment

However, the hypothesis of ether was also not free from difficulties. Soon the question arose as to what was the effect of the motion of bodies through all-pervading ether. For if the ether was a luminiferous medium behaving like an elastic solid, there should be some effect of it on the planets travelling through it at immense speed in their orbital motion and also on the light waves propagating through it. In an attempt to measure the velocity of the earth through the, 'ether', by measuring the effect which such a velocity would have upon the velocity of light, two American physicists, A.A. Michelson and E.W.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Morley performed a classic experiment in Cleaveland in the year 1881. In this experiment, light-rays were used to detect the effect of earth's motion on the ether, and thus prove its real existence.

The principle behind the Michelson-Morley experiment is quite simple. If the absolute space is a motionless ocean of ether and if the stellar bodies are floating in this infinite ocean of ether, it would be possible to measure the actual velocity of his ship moving in the ocean. Michelson and Morley used a beam of light for measuring the velocity of the earth through the ocean of ether.

The principle was : If the earth were standing still in the ether, the time of a double journey of given length would of course always be the same, regardless of its direction in space. But if the earth were moving through a sea of ether in an easterly direction, it is easy to see that a double journey, first from east to west and then from west to east, ought to take slightly more time than one of equal length in north-south and south-north directions. No more recondite principle is involved than in the common experience that it takes longer to row a boat 100 yards upstream and 100 yards down-stream than to row 200 yards across as the stream ; in the former case we go slowly up-stream, and come quickly down-stream, but the gain of time in rowing down with the current is not sufficient to make good the time previously lost in rowing up against the current. If two oarsmen of equal speed set out simultaneously to row the two courses, the cross-stream rower will arrive first, and the difference between their times of arrival will disclose the speed of the current.[8] It was anticipated that, in precisely the same way, if there was really an ether-stream generated by the motion of the earth moving through it, a beam of light travelling in the direction of the postulated ether stream and returning back would take longer than the beam of light which would traverse the same distance in the direction at right angle to the postulated ether stream. The difference in the times taken by the two beams of light would disclose the speed of the earth's motion throagh the ether.

Michelson and Morley used an interferometer consisting of an arrangement of mirrors, so designed that a beam transmitted from a light source was divided and sent in two directions (at right angles to each other) at the same time. The whole apparatus was rotated in different directions so that the two different beams could be sent with, against and at right angles to the postulated ether-stream. The interferometer was also provided with the optical apparatus which could detect the acceleration or retardation of either beam by the ether-stream.

The experiment was performed so carefully that there was no

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

possibility of any error. The result was that no change in the velocity of light beams traversing in any direction was recorded. In other words, the apparent velocity of the earth through ether was zero. The experiment was repeated several times, but no motion of the earth relative to the ether was detected.

As a result of this important experiment, two possible conclusions were suggested :—

1. There exists ether but the motion of the earth through it has no effect on it. This would mean that the earth stands still in ether.

2. There exists no such substance as ether.

If the first alternative was accepted, the scientists had to abandon the still more venerable copernican theory that the earth is in motion, which seemed nearly impossible for them. At the same time, if they accepted the second alternative abandoning the ether, they had no explanation for the wave theory of light. To many physicists it seemed almost easier to believe that the earth stood still than that waves—light waves, electromagnetic waves—could exist without a medium to sustain them. It was a serious dilemma and one that split scientific thought for a quarter century. Many new hypothesis were advanced and rejected.[9]

Fitzgerald and Lorentz

Meanwhile, Fitzgerald (1893) and Lorentz (1895) independently put forward explanation to account for the negative results of the Michelson-Morley experiment. The experimenters had in fact tried to make two rays of light travel simultaneously to and fro over two courses of equal length. Without losing anything of the essence of the experiment, we may imagine that the lengths of the two courses had been measured or compared by ordinary measuring rods-footrules, if we like. How was it known, Fitzgerald and Lorentz asked, that these rods, or the course laid out by them, retained their exact length while they were moving forward through a sea of ether ? They argued that if the measuring rod, when it moves, undergoes a contraction in length, it would not be possible for us to comprehend the effect of ether on the velocity of light. Thus, if the apparatus used by Michelson and Morley contracted in the same way, the up-and-down stream course would always be shorter than the cross-stream course. This reduction of length would do something to compensate for the other disadvantages of the up-and-down stream course. A contraction of exactly the right amount would compensate for them completely, so that this and the cross-stream course would require precisely equal times. In this way, Fitzgerald and Lorentz suggested, it might be possible to account

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

for the nul result of the experiment.

The idea was not wholly fanciful or hypothetical, for Lorentz showed very shortly afterwards in his mathematical transformations that if a body moves with a velocity comparable to the velocity of light, it would experience a considerable contraction in length in the direction of the motion.[10]

Lorentz, in his mathematical transformation, also showed that when a system moves, a contraction occurs in the time-dimension too. This not only explained, fully and completely, why the Michelson-Morley experiment had failed, but it further showed that every material measuring rod would necessarily contract just sufficiently to conceal the earth's motion through the ether, so that all similar experiment were doomed to failure in advance. But other types of measuring rods are known to science ; beams of light, electric forces, and so on, can be made to span the distances from point to point, and so provide the means for measuring distances. It was thought that where material measuring rods had failed, optical and electrical measuring rods might succeed. The trial was made, repeatedly and in many forms—the names of the late Lord Rayleigh, of Brace and of Trouton are eminent in this connection. And every time it failed. If the earth had a speed x through the ether, every apparatus that the wit of man could devise confused the measurement of x by adding a spurious speed exactly equal to —x, and so reiterating the apparent zero answer of the original Michelson-Morley experiment.[11]

Thus, the upshot of many years arduous experimenting was that the scientists failed to detect the earth's motion through the ether.

Dr. Albert Einstein

When no solution to the problem created by Michelson-Morley experiment was being found, it was Albert Einstein, a twenty-six year old young scientist who yielded a venerable solution which subsequently brought a revolution in the field of modern physics, In 1905, Einstein wrote his famous article on "The Theory of Relativity", in which he, on the basis of Lorentzs mathematical transformations, established altogether new facts. First of all, Einstein gave up the concept of ether as a physical substance, He, then, propounded the new law in the form, "Nature is such that it is impossible to determine absolute motion of any uniformly moving system by any experiment whatever." This is called as "Special Theory of Relativity". Thus, the special theory is limited to the description of events as they appear to observers in a state of uniform motion, relative to one another.

Together with ether, Einstein also denied the existence of space in the form of an absolute stationary frame of reference, which pro-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

vided for distinguishing the absolute motion from relative motion. He based his theory on the two fundamental assumptions :

1. The velocity of light is the same constant to all observers.
2. The laws of natural phenomens are the same for all observers.

Michelson-Morley experiment had already shown that the velocity of light is not affected by the motion of the earth. Einstein took this as a revealation of a natural law and assume d that if the velocity of light is constant and remains unaffected by the motion of the earth, it should not be affected also by the motion of sun, moon, stars, planets or any other moving system. He generalised this law and assumed that all laws of nature should remain the same for all the uniformly moving systems.

Einstein's argument was that though the earth is in motion (revolving round the sun at a speed of 20 miles per second) we cannot feel our motion through space, nor has any physical experiment ever proved that the earth actually is in motion. In the same way, the whole universe is a restless place : stars, nebulae, galaxies, and all the vast gravitational systems of outer space are incessantly in motion. But their movements can be described only with respect to each other, for in space there are no directions and no boundaries. If only a single system were allowed to move and the rest of the systems were removed from the universe, nobody would be able to say whether the system is at rest or moving with a speed of 100000 miles per second. For motion is a relative state ; unless there is another system to compare with, it is futile to make any statement about the motion of a system.

Thus, Einstein showed that it is futile for the scientists to try to discover the "true" velocity of any system by using light as a measuring rod, for the velocity of light is constant throughout the universe and is unaffected either by the motion of its source or the motion of the receiver.[12]

It also follows that there is no such substance as ether, to which Maxwell's equations referred. For, if there were such ether, light which keeps its velocity constant, would not be able to do so on account of ether's effect on its velocity. Actually, Einstein found ether quite useless, and therefore, he abandoned it. Since, according to him, all systems of reference that are in uniform translation motion with respect to each other are equivalent for the description of nature, there is no meaning in the statement that there is a substance, the ether, which is at rest in only one of these systems. Such a substance is in fact not needed and it is much simpler to say that light waves are

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

propagated through empty space and that electromagnetic fields are a reality of their own and can exist in empty space.[13] Or,as Jeans expresses : "If we want to visualise the propagation of light-waves and electromagnetic forces by thinking of them as disturbances in an ether, our ether must be something very different from the mechanical ether of Maxwell and Faraday.[14] (*To Continue*)

References :

1. See, *Principia Mathematica*, Tr. by Motte and Canjorie, p. 6 (Berkeley, 1947)
2. *Ibid*, p. 6
3. Cf. Whittaker, *From Euclid to Eddington*, p. 13
4. Loc. cit.
5. Loc. cit. ; also of Sir James Jeans, *The Mysterious Universe*, p. 78
6. Cf. Lincoln Barnett. *The Universe and Dr. Einstein*, p. 45 (Mentor Book, New American Library of World Literature, New York, 19¯4).
7. Cf. *Ibid*, p. 45
8. Cf. *The Mysterious Universe*, p. 74
9. Cf. *The Universe and Dr. Einstein*, p. 45-48
10. This fact can be stated by the following equation ;

If,

l_1 = length of measuring rod at rest,

l_2 = length of measuring rod in motion,

v = velocity of moving rod,

c — velocity of light (which is nearly 186000 miles per second),

and t = time taken by body travelling with velocity.

then,

$$l_2 = \frac{l_1 - vt}{\sqrt{1 - \frac{(v^2)}{(c^2)}}}$$

It is obvious that when v is negligible in comparison to c, l_2 will be nearly to l_1 ; but when v is comparable to c, l_2 will be much less than l_1.

11. Cf. *The Mysterious Universe*, p. 77
12. *The Universe and Dr. Einstein*, p. 49, 50
13. Heisenberg, *Physics and Philosophy*, p. 101
14. *The Mysterious Universe*, p. 90.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

SOME PROBLEMS OF MĀGADHĪ DIALECT

☐ *Jagat Ram Bhattacharyya**

(Continued from the previous Number)

Prakrit Grammarians

Though we have the earliest literature in Māgadhī from the time of Aśoka (3rd century B.C.), we do not know any prakrit grammar available at that time. In Bharata's *Nāṭya-śāstra* (chap. 17), we have some characteristic features of prakrit in general, but it is so meagre that no knowledge of prakrit language could be gathered from it. We have some mythological names as Kohala, Kapila, Śākalya, Māṇḍavya etc. as authors of prakrit grammars, but no texts are available in their names except a few quotations.[1] However, it seems little strange that prakrit being very old in its origin, we do not have any systematic grammar book before Vararuci whose date, though controversial, is generally accepted either 5th or 6th century A.D. From that time onwords till 10th century A.D. we have again a gap and no prakrit grammars between these years are available. After Vararuci next authoritative grammarian is Hemacandra (1088-1172 A.D.), whose Prakrit grammar is exhaustive and systematic. It is only from the prakrit grammarians that we know the characteristic features of Māgadhī. From Hemacandra onwords we have hosts of prakrit grammarians who are grouped into two as eastern and western, Vararuci being headed for the eastern and Hemacandra for western. Instead of describing their treatises in detail only their names are mentioned below in a tabulated form.

* Lecturer in the Dept. of Prakrit, J.V.B., Ladnun

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	Eastern School	Books & Mg. chapters	Western School Vālmīki (?)	Books & Mg. chapters. some sūtras (?)
B.C. or A.D.	Śākalya, Māṇḍavya, Kohala, Kapila			
3rd. A.D.	Bharata	Nāṭya-śāstra (ch. XVII)		
5th A.D.	Vararuci	Prākṛta-Prakāśa XI ch. (Cowell's edn.)		
10-11 A.D.	Kramadīśvara	Prākrtādhāya Vth ch. (S.R. Banerjee's edition).		
11-12 A.D.			Hemacandra	Siddha Hema Śabdānuśasana IV ch. (P.L.—Vaidya's edn.)
12-14	Puruṣottama	Prākṛtānuṣasana XII ch. (D.C. Sircar's edition.)		
14th A.D.			Trivikrama	Prākṛta Ṣabdānu-śāsana III ch. (P.L. Vaidya's edn.
16th A.D.	Rāmaśarman (Tarkavāgīśa)	Prākṛta Kalpataru II ch. (M.M. Ghosh's edn.)		
17th	Mārkaṇḍeya	Prākṛta Sarvasva XII ch. (S.P.V. Bhattasvami's edition.		

EARLIEST REFERENCES TO MĀGADHĪ AND ITS SPEAKERS[2]

Though historically Māgadhī is very old, but its references to literature are not really very old. Sanskrit rhetoricians and dramaturgists, while distributing or mentioning the prakrit dialects in connection with the speakers of those dialects, they have mentioned some names of prakrit languages, in the list of which Māgadhī occurs. These list of prakrit speakers do not always conform with the documentary evidence when we consult the sanskrit dramas. Persons who speak Māgadhī in sanskrit dramas do not always tally with the statement as mentioned by sanskrit dramaturgists. In a sense it is a problem. What is the source-book of sanskrit dramaturgists to describe the characters speaking Māgadhī? There are very few sanskrit dramatists who have used Māgadhī in their Sanskrit dramas. Śaurasenī speakers are more than Māgadhī speakers. However, let us discuss the authors who mention Māgadhī dialect in their respective features and the persons speaking Māgadhī.

In the Nāṭyaśāstra (chap. XVII) Bharata (300 A. D.) mentions the name of Māgadhī among the list of his prakrit dialects :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

māgadhy-avantijā prāchā Śauraseny-ardhamāgadhī /
Vāhlīkā dākṣinātyā ca sapta bhāṣā prakīrtitāḥ // 5.

Bharata also says that Māgadhī is to be used by low caste people ;

Māgadhī tu narendrānām antaḥpuranivāsinām // 10.

Dhanañjaya (10th century A.D.) in his Daśa-rūpaka says that Māgadhī is spoken by the extremely degraded persons :

Strīṇāṁ tu prākṛtaṁ prāyaḥ Śūraseny-adhameṣu ca /
piśācā-tyanta nīcādau paiśācaṁ māgadhaṁ tathā // 60.

In a similar way, Sāradātanaya (1175-1250 A.D.) while talking about the languages to be used in Sanskrit dramas, mentions the name Māgadhī and its speakers ;

bhāṣā syāt saptadhā daiśyā vibhāṣā' pi ca saptadhā /
māgadhy-avantikā prācyā Śaurasenyā-ca [nyardha] māgadhī //

Following Bharata, Sāgaranandin (13th century A.D.) in his *Nāṭaka-lakṣaṇa-ratna-koṣa* mentions Māgadhī among the seven kinds of prakrit dialects :

māgadhy-avantikā prācyā Śauraseny-ardhamāgadhī /
Vāhlīkī dākṣiṇātyā ca saptai-tāḥ parikīrtitāḥ //

p. 5, 112-113 (lines)

He also says that Māgadhī is spoken by the low caste people (*Māgadhīṁ tatpare' dhamāḥ*—2154 line at p. 90 of Myles Dillon's edition).

Śiṅgabhūpāla (about 1330 or 14th century A.D.) in his *Rasārṇava-sudhākara* divides prakrit into two : bhāṣā and vibhāṣā. In the category of bhāṣā he mentions Māgadhī as one of the main dialects.

tatra bhāṣā dvidhā bhāṣā vibhāṣā ceti bhedataḥ /
tatra bhāśā sapta vidhā prācyāvantyā ca māgadhī // I. 295
prakṛteḥ saṁaskṛta-yāstu vikṛtiḥ prākṛtī matāḥ /
ṣaḍvidhā sā prākṛtaṁ ca śaurasenī ca māgadhī // III. 297

In his opinion the fisherman and the low grade persons speak Māgadhī :

dhīvarādyati-nīceṣu māgadhī ca niyujyate // III. 301

Though apparantly it seems that Viśvanātha (1330-1400 A.D.) might have borrowed his idea on the distribution of Prakrit dialeets from Bharata's *Nāṭya-Śāstra*, he has also derivated from him, particularly with reference to Māgadhī dialect which is described by him thus :

atroktā māgadhī bhāṣā rājāntaḥ-pura-cārinām //

[ch. VI, §. 168 at p. 365 of the edition Haridāsa-Siddhāntavāgīśa]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Viśvanātha's *rājāntaḥpura*—is the echo of Bharata's *narendrāṇām* which, Vaidya[3] says, was misunderstood by Viśvanātha. In the opinion of Vaidya *narendrāṇām* means "snake-charmers".

Rāghavabhaṭṭa (between 1475-1500 A.D.) in his commentary on the *Abhijñāna-śakuntalam*, while commenting on the sixth act, gives some features of Māgadhī by quoting some sūtras (which have been edited and commented by me later on).

Pṛthvīdhara (end of 15th century A D.), a commentator of the *Mṛcchakaṭika*, mentions four principal prakrits of which Māgadhī is one. He further says that Māgadhī is spoken by Saṁvāhaka, Bhikṣu, Cārudatta's son, the three servants of Śakāra, Vasantasenā and Cārudatta :

saṁvāhakaḥ śakāra-vasantasenā-cārudatta-nām |
ceṭaka-tritayaṁ bhikṣuṣ-cārudatta-dārakaḥ ||

Śubhaṅkara (1500 A.D.[4]) in his *Saṁgīta-Dāmodara* mentions different types of language used in a drama. The languages mention by him are Saṁaskṛta, Prākṛta, Apabhraṁṣa and Paiśācīkā. Of these prākṛta is of innumerable varieties. Māgadhī and Śaurasenī are mentioned among the dialects of prakrit besides Mahārāṣṭrī, Ardha-Māgadhī, Prācyā and others. He considers Māgadhī and Śaurasenī as two distinct seperate dialects. In the following verse the name Māgadhī occurs.

sā bhaven māgadhī yatra prathamānta pade bhavet *|*
e-kāra[5] *eva sarvatra bhedo'yaṁ muni sammataḥ ||*

In the 16th century Rūpagosvāmī (about 1550 A.D.) in his *Nāṭaka-Candrikā* mentions Māgadhī as one of the dialects of prakrit, and he has followed his predecessors in this respect :

ṣoḍhān-timā prākṛti syāt śaurasenī ca māgadhī |
paiśācī cūlika-paiśācy-apabhraṁśa iti kramāt || 254
atroktā māgadhī bhāṣā rājāntaḥ-pura-cāriṇām |
tathā vidūṣakādīnāṁ ceṭānāmapi kirtitā || 258

In the introductory portions of Lakṣmīdhara's *Ṣaḍ Bhāṣā Candrikā* (16th century A.D.), the divisions of prakrit and the speakers of these languages are given, It appears that these verses are taken from Śiṅgabhūpāla's *Rasārṇava-sudhākara.* So the verses are not quoted here.

From the above survey it appears that māgadhi has always been mentioned as one of the principal dialects of prakrit. Sanskrit dramaturgists have never given the characteristic features of Māgadhī for which we will have to depend on prakrit grammarians.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It is also evident from the above that the speakers of Māgadhī vary from text to text, though one, it seems, has followed the other. In summing up their discussions we can say that Māgadhī is spoken by the people of inner appartment of the king, fishermen, menials, dwarfs, diggers of the underground passages. Māgadhī of such like people have been refracted through the sanskrit dramas. Bharata established Māgadhī as the language of the people of kings inner appartment and he did not mention it as the language of lower-class people. Munīśvar Jhā[6] is of opinion that most of the bards and court singers were of Magadha in the past. So Māgadhī can not be designated only as the language of lower class people. He further says that Māgadhī and the people of Magadha were neglected in the Vedic era. Atharva-veda declares that the people of Magadha were the source of malarial fever. In the *Śatapatha-Brāhmaṇa* the *prācyās* (easterners) are described as *asuras* (demons). The Māgadhas (people of Magadha) might be counted on that point only in the *Sāṅkhāyana-Āraṇyaka*, a Brāhmaṇa was praised enthusiastically. Oldenburg remarks that this type of praise is unusual. Macdonell and Keith support this view.

Jhā has further raised the question why Māgadhī or the people of Magadha have been neglected through out the Vedic era. He has mentioned several causes for this :

(i) According to Oldenburg, the Māgadhas were not Brāhmaṇised in that period.

(ii) Fick thinks that the western Brāhmins dislike the eastern Brāhmins as they are Brāhmaṇised or partly Brāhmaṇised in later period and so the Brāhmins and Priests were neglected by them.

(iii) Any body can guess that the people of Māgadha were of the zone of Vedic civilisation. That is to say, on that context, that the Vedic-civilisation and culture have been spread on the western and central India. So the people of Magadha could consider themselves as the owners of Vedic culture in a few.

(iv) J. Bloch accounts that the fall of Maurya-dynasty is the most possible cause of fading the Māgadhī and thus the western prakrits come to the eminence simultaneously.

In the *Pratijñā-yougandharāyana* and *Cārudatta* some Māgadhī passages are found.

Bhāsa declares that Māgadhī is the language of those persons who are lower in social status.

In the Mṛcchakaṭik Māgadhī has been spoken by so many chara-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

cters. The Shampooer, who later becomes a monk, the servant of the Śakāra, Kumbhīlaka, the servant of Vasantasenā, Vardhamānaka, the servant of Cārudatta use Māgadhī as their own dialect. The speech of Rohasena is suggested to be Māgadhī but all the manuscripts do not agree with that point. Some of them try to establish the speech of Rohasena as Śaurasenī.

The sub-dialects of Māgadhī have been spoken by so many characters also, such as, Śākarī is spoken by the brother-in-law of the king. Likewise Cāṇḍālī and Śābarī are also used. Māthura and the two gamblers speak in Ḍhakkī (or Ṭakkī).

In Mudrā-rākṣasa, the Jain Monk, Kṣapaṇaka, the two butchers Siddhārthaka and Samiddhārthaka and a servant speak in Māgadhī.

Harṣa, the king of Kānyakubja wrote three dramas—*Nāgānanda*, *Priyadarśikā* and *Ratnāvalī*. Only in the Nāgānanda some passages are found in Māgadhī and it is spoken by servants.

In the *Veṇīsaṁhāra* of Bhaṭṭanārāyaṇa, only the demon and his wife use Māgadhī as their dialect.

The allegorical work of a Jain writer is *Mahārāja-parājaya* (published in Geekwad's Oriental series, No. IX, 1918), where Rauhineya a śabara, the noted robber and the hero of that drama speaks Māgadhī as his own language.

In Somadeva's *Lalita-Vigraha-Rāja-Nātaka*, Māgadhī has taken place partially. Somadeva (12 century A.D.) was the contemporary of Hemacandra and his Māgadhī dialect was followed fully by Hemacandra's rule.

Accordingly to Rāmśarmā (14th-16th century A.D.), Māgadhī is spoken by demons and lowgrade Buddhist and Jain monks. Mārkandeya (17th century A.D.) added servants for the same.

MĀGADHĪ : SOME PROBLEMS

Here I am not presenting all the problems of Māgadhī, nor am I proposing to write a detailed study of the Māgadhī language, but I have selected some basic problems which are found in the Māgadhī passages of sanskrit dramas. In editing a text on sanskrit dramas, these fundamental basic problems create some difficulties, Some of these problems are the generel treatment of sanskrit *r*, *j*, *ks*, *cch*, etc. in Māgadhī. Moreover, the pronunciation of Māgadhī palatals is also interesting. The treatment of nominative singular of *a*-base, genitive singular in *āha* and many others are variously treated by different prakrit grammarians. The reason that I have chosen these problems for a dissertation is to focus the idea that all these problems

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

have some interesting development in Māgadhī. In a sense, we can trace the history of these problems in Māgadhī even from the Vedic times, if not earlier. It is interesting to note that all the prakrit grammarians are not unanimous on these points.

The prakrit grammarians who have discussed these problems are Vararuci, Hemacandra, Trivikrama, Puruṣottama, Kramadīśvara, Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya, I have normally discussed these problems chronologically and this chronology shows how one grammarian differs from the other. This difference of opinion between the two authors is based sometimes on the historical development of these two problems. I have tried my best to state the reason of these differences. In doing so, sometimes it is seen that the readings of the texts of some of the grammarians on this particular issue are corrupt or incorrect. This is sometimes verified by the statement of other grammarians. So in my discussion, I have tried my best to be very careful in assessing their statements.

Secondaly, I have also consulted the modern writers on Prakrit grammar, such as pischel, Woolner and others. Pischel's prakrit grammar, is undoubtedly the basis of modern outlook. I have freely incorporated his ideas where necessary in my article. Even Pischel seems to have made some mistakes in some cases when he thinks either the text or the manuscript is corrupt. However, Pischel's grammar is constantly consulted along with others in order to check the reading of the prakrit grammarians.

In the third place, prakrit literature on Māgadhī passages are also consulted. In a sense, there is no single book which is written in Māgadhī. The specimens of Māgadhī are normally found in Sanskrit dramas, and even there all the sanskrit dramas do not have the passages in Māgadhī. For Bhāsa and Aśvaghoṣa there are controversies about their Māgadhī passages. It is only Mṛcchakaṭik and Śakuntalā (act VI), we have specimens of Māgadhī prakrit. The Māgadhī passages in the VIth act of Śakuntalā are very corrupt, and therefore, it is sometimes difficult to rely upon. Though Scholars like Pischel have edited the text, he too is terribly guided by Hemacandra, who linguistically belongs to the Western school of prakrit grammarians. As a result there are some features of Māgadhī prakrit like *peskadi* which are not accepted by the Eastern prakrit grammarians like Puruṣottama, Rāma Tarkavāgīṣa and Mārkaṇḍeya. As a result we are at a loss to decide the reading of the text. Though it is not the intention to correct the Māgadhī passages of Śakuntalā, I have raised these points in order to show that the Māgadhī passages in Śakuntalā, though carefully edited by Pischel, can not go on a par with the views of Eastern

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

prakrit grammarians. The Māgadhī passages in the Mṛcchakaṭik as found more or less in standard editions like Godabole, Paranjape, Karmarkar, Nerurkar and others are not as such critically edited. And therefore, we can not cite them as instances of genuine Māgadhī prakrit. On the whole Godabole's edition is better than the others as in some of the passages the basic Māgadhī characters are found and sometimes can be justified by the Eastern prakrit grammarians. However, as the Māgadhī passages in the Sanskrit dramas are not carefully edited, we can not always cite these passages to justify some of the views of Prakrit grammarians.

It is said that the Aśokan inscriptions in the Eastern region are the earliest representative specimens of Māgadhī prakrit. Though there can be some tinge of truth in this sort of statement, they, can not be cited as the specimens of Māgadhī, because they cannot be corroborated by the views of prakrit grammarians. The prakrit grammarians who have given the characteristic features of Māgadhī do not belong to the earliest stage of the language The earliest prakrit grammarians, as far as we know till today is Vararuci belonging to the 5th/6th century A.D. and the Māgadhī features as found in the editions of Cowell (1854, 1868) are controversial. There are some who say that Māgadhī, Śaurasenī, and Paiśācī passages in Cowell's edition are not genuine,[7] because all the commentators of Vararuci's prakrit grammar have not commented upon these sūtras and in fact the editions of Basantarāja and Sadānanda (1927) and Rampāṇivāda (1946) and Raghunātha (1954) and Nārāyaṇa Vidyāvinoda (1975) have not get the chapters on Māgadhī, Śaurasenī and Paiśācī and therefore, the question of Māgadhī features does no arise. And even Cowell in his introduction says that the features on these three dialects are found in one or two manuscripts designated by him as *W*. So the features of Māgadhī as given by Cowell cannot be considered as genuine in this particular case. But later grammarians from Hemacandra down to Mārkaṇḍeya have, of course, given the features of Māgadhī, but they are very late as far as the specimens of Aśokan inscriptions are concerned. As a result it has become very difficult for us at the present day to find out the Māgadhī specimens in order to get some idea about it. Māgadhī being the language of Eastern region of India, which can be corroborated at modern times with Bengal, Bihar and Orisa, it would be at times difficult to rely on the characteristic features of Māgadhī given by the Western grammarians like Hemacandra, Trivikrama, Lakṣmīdhara, Siṁharāja and others. The earliest specimens of Bengali, Oria and Bihari language do not even help us very much in this respect.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Lastly, I have therefore discussed the problem histrocially. I have tried my best to trace some of the very dominent features of Māgaḍhī from the Vedic times. And it is to our utter surprise, we find that some of the genuine Māgadhī features can be traced from some of the Śikṣās of Sanskrit language. These Śikṣās normally deal with the features of Sanskrit, say, for example, change of *y* into *j*, and accidentally this feature is also found in Prakrit though not in Māgadhī. In this way, in this short limited space and time, I have tried my best to discuss the problem and have come to a conclusion which could help the scholars while editing a Māgadhī passage of the Sanskrit dramas.

(To Continue)

References :

1. For the quotations of these authors, vide S. R. Banerjee's Eastern School of Prakrit Grammarians, Calcutta, 1977, pp. 7-8 and appendix A (pp. i-ii).
2. For this Vide, NŚ (ch. XVII), DR (II. 58-61), SD (ch. VI), RS (III. 299-305), NLR (pp. 5, 90 ed. Dillon), NC (pp. 61-62 ed. Puridāsa), Ṣaḍ-C (introduction), Pṛthvīdhara on Mṛcchakaṭika, R. Pischel, GPS (§ 23), W.E. Clark, Māgadhī and Ardhamāgadhī, JAOS, 44, 1924, pp. 110-114, A.B. Keith, Sanskrit Drama, 1924, pp. 335-337, P.L. Vaidya, on the use of prakrit Dialects in Sanskrit Dramas, ABORI, Vol. XXXIII, 1952, pp. 15-25.
3. P.L. Vaidya, ABORI, vol. XXXIII, 1952, p. 19.
4. Prof. D.C. Bhattacharyya fixed A.D. 1500 as the date of Śubhaṅkara, vide *Saṃgīta-Dāmodara* edited by G. Shastri and G.G. Mukhopadhyay, Calcutta, 1960, introduction page 14.
5. In the edition of Calcutta, *e*-kāra is printed as *ai*-kāra (p. 77) and in the introduction (p. 32) it is said 'in māgadhī the nominative always ends in *ai*'. It appears that the *ai*-kāra should be *e*-kāra (and hence emended by me as such), because the nominative singular of *a*-base ends in *e* in Māgadhī.
6. Formation of Māgadhī, Calcutta, 1967, pp. 4-7,
7. Satya Ranjan Banerjee's Vararuci's Prakrit prakāśa, 1975, pp. 26-27 (introduction), and Eastern school of Prakrit grammarians, 1977, p. 37.

□□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ILLUMINATOR OF JAINA TENETS

(*Ācārya Tulsī's* JAINA-SIDDHĀNTA-DĪPIKĀ)

English Rendering by Late Dr. Satkari Mookerjee

Edited with Detailed Notes and Introduction by :

Dr. Nathmal Tatia

Muni Mahendra Kumar

The original book *Jaina-siddhānta-dīpikā* was composed in Sanskrit by Ācārya Tulsi in sūtra style. The learned editors have thrown new light on the ancient Jaina doctrines like *paryāpti,* types of birth, vertebrates, invertebrates etc. The introduction gives a new treatment to the topics like substance and attribute, space and time, materialistic concept of *karman* in relation to modern science of genetics and the two deadly sins of the civilized man, viz. *ārambha* (the aggressive urge) and *parigraha* (the possessive instinct).

Pages 243. Published in 1985. Price Rs. 150/- U.S. $ 20.

JAINA MEDITATION
CITTA SAMĀDHI : JAINA-YOGA

by

Dr. Nathmal Tatia, Director, Anekānta Śodha-Pīṭha

This volume is a miscellany of critical studies and critically re-edited texts on meditation. The treatises of as many as six Jaina *ācāryas,* viz. Umāsvāti, Siddhasena Divākara, Jinabhadragaṇī Kṣamāśramaṇa, Siddhasenagaṇī, Vīrasenācārya and Abhayadevasūrī have been brought together in one volume. The texts from *Sthānāṅgasūtra, Dhyānadvātriṁśikā, Āvāradasāo, Tattvārtha-bhāṣya, Dhyāna-śataka, Dhavalā* and *Bhagavatī-Ārādhanā* on meditation have been reproduced here and the doctrine of *dhyāna* has received a lucid treatment throughout the ten chapters of the book.

Pages 164. First Edition : 1986. Price Rs. 25/-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Registration Nos. [Postal Department : NUR—08
Registrar of Newspapers for India : 28340/75
Vol. XV, No. 5 TULASĪ-PRAJÑĀ June, 1990

जैन विश्व भारती, लाडनूं

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

वाचना प्रमुख : आचार्यश्री तुलसी, विवेचक तथा सम्पादक : युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

आगम ग्रंथ :

१.	अंगसुत्ताणि १ (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	८५.००
२.	अंगसुत्ताणि २ (भगवई : विआहपण्णत्ती)	९०.००
३.	अंगसुत्ताणि ३ (णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसूयं)	८०.००
४.	नवसुत्ताणि (आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहज्झयणं) पृ० १३००	२५०.००
५.	उवंगसुत्ताणि, खण्ड १ (ओवाइयं, रायपसेणियं, जीवाजीवाभिगमे)	२००.००
६.	उवंगसुत्ताणि, खण्ड २	२५०.००
७.	भगवती-जोड़, भाग-१	१३०.००
८.	भगवती-जोड़, भाग-२	१७०.००
९.	दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६१२ साइज डिमाई १/४	१२५.००
१०.	ठाणं पृष्ठ १२०० ,, ,,	१७०.००
११.	आयारो—मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण	५०.००
१२.	समवाओ (द्वादशांगी का चतुर्थ अंग) पृष्ठ ४६८, साइज डिमाई १/४	१५०.००
१३.	सूयगडो-१ (द्वादशांगी का द्वितीय अंग) पृष्ठ ७००, साइज डिमाई १/४	२००.००
१४.	सूयगडो-२	१५०.००
१५.	आगम शब्दकोश (अंगसुत्ताणि शब्दसूची) खण्ड १, भाग १ (नेट)	१२०.००
१६.	देशी शब्दकोश, (लगभग १४००० देशी शब्द सहित), पृ० ६३८	१००-००
१७.	निरुक्त कोश, सम्पादक : साध्वी सिद्धप्रज्ञा एवं साध्वी निर्वाणश्री	६०-००
१८.	एकार्थक कोश, सम्पादक : समणी कुसुमप्रज्ञा	७०-००

आगमेतर ग्रंथ

१.	Illuminator of Jaina Tenets—Acharya Tulsi Eng. Trans.—Dr. N.M. Tatia and Muni Mahendra Kumar	१५०.००
२.	भगवान् महावीर—आचार्य तुलसी	५.००
३.	श्रमण महावीर—युवाचार्य महाप्रज्ञ	३०.००
४.	50 Years of Selfless Dedication	१५.००
५.	जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—साध्वी संघमित्रा	५०.००
६.	पाइअ संगहो, संकलनकर्ता : मुनि विमलकुमार	२०-००
७.	तुलसी मञ्जरी (प्राकृत व्याकरण), : युवाचार्य महाप्रज्ञ,	५०-००

—: प्राप्ति-स्थान :—

Jain Vishva Bharati, Ladnun (Raj.) 341306

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग, संयोजक, प्रेस-पत्र-प्रचार-प्रकाशन, जैन विश्व भारती, लाडनूं, द्वारा जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं में मुद्रित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org